मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली

संपादक
कृष्णदत्त पालीवाल

"पचास वर्ष से अधिक तक हिन्दी काव्य-जगत पर छाये रहकर भी वह कैसे बिना परम्परा से नाता तोड़े, नये चिन्तन को भी आत्मसात करते हुए युवतर पीढ़ी के लिए एक चुनौती बने रह सके। यह नये लेखक के लिए समझने की बात है। परम्परा को तोड़े बिना कैसे आधुनिक हुआ जा सकता है, इसका उदाहरण हिन्दू से लेकर यशोधरा तक की उनकी काव्य-यात्रा प्रत्यक्ष दिखाती है, बल्कि वह यह भी दिखाती है कि परम्परा को तोड़े बिना कैसे उसे आप्त करते हुए उससे मुक्त हुआ जा सकता है। गुप्त जी को मैंने 'प्रसन्न आधुनिक' इसीलिए कहा था : आधुनिकता को बहुत से लोग खंडित व्यक्तित्व और संत्रास के साथ जोड़ते हैं लेकिन दद्दा लगातार उस रेखा पर जाते थे जहाँ यह विरोधाभास निरन्तर हल होते चलता है। उन्हें 'सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावादी' भी कहा जा सकता है और उतनी ही सच्चाई के साथ मानवतावादी भी। और वैष्णव तो वह थे ही।"

—**अज्ञेय,** 'स्मृति-लेखा'

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-2

खण्ड-1

❑ रंग में भंग ❑ जयद्रथ-वध ❑ पद्य-प्रबन्ध ❑ भारत-भारती

खण्ड-2

❑ पत्रावली ❑ वैतालिक ❑ किसान ❑ पंचवटी ❑ हिन्दू

खण्ड-3

❑ स्वदेश-संगीत ❑ सैरन्ध्री ❑ वकसंहार ❑ शक्ति ❑ वन वैभव ❑ गुरुकुल

खण्ड-4

❑ विकट भट ❑ झंकार ❑ साकेत

खण्ड-5

❑ यशोधरा ❑ द्वापर

खण्ड-6

❑ सिद्धराज ❑ नहुष ❑ कुणाल-गीत ❑ अर्जन औरविसर्जन ❑ विश्व-वेदना ❑ काबा और कर्बला ❑ अजित

खण्ड-7

❑ हिडिम्बा ❑ प्रदक्षिणा ❑ युद्ध ❑ अंजलि और अर्घ्य ❑ पृथिवीपुत्र : दिवोदास, जयिनी, पृथिवीपुत्र ❑ जय भारत

खण्ड-8

❑ राजा-प्रजा ❑ विष्णुप्रिया ❑ रत्नावली ❑ उच्छ्वास

खण्ड-9

❑ अनघ ❑ चन्द्रहास ❑ तिलोत्तमा ❑ निष्क्रिय प्रतिरोध ❑ विसर्ज्जन ❑ स्वप्न वासदत्ता ❑ प्रतिमा ❑ अभिषेक ❑ अविमारक

खण्ड-10

❑ मेघनाद-वध ❑ वीरांगना ❑ विरहिणी व्रजांगना

खण्ड-11

❑ पलासी का युद्ध ❑ वृत्र-संहार ❑ रुबाइयात उमर खय्याम

खण्ड-12

❑ भूमि-भाग ❑ शकुन्तला ❑ स्वस्ति और संकेत ❑ त्रिपथगा ❑ मुंशी अजमेरी

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-2

सम्पादक

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
फोन : 011-23273167, 23275710
फैक्स : 011-23275710
e-mail : vaniprakashan@gmail.com
website : www.vaniprakashan.com

वाणी प्रकाशन का लोगो
विख्यात चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसेन
की कूची से

ISBN : 978-81-8143-756-3

वितरक :

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
साहित्य सदन
184, तलैया झाँसी
संस्करण : 2008

आवरण : वाणी प्रकाशन
क्वालिटी ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-110032
द्वारा मुद्रित

बारह खण्डों का मूल्य
मूल्य : 9000/-

MAITHILISHARAN GUPT GRANTHAWALI-2
Edited by : Dr. Krishandatt Paliwal

निवेदन

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के समग्र साहित्य को एकसूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी के सहृदय-समाज को अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। गुप्त जी लगभग साठ वर्ष तक साहित्य-साधना में निरन्तर समर्पित रहे। वे हिन्दी भाषियों के साथ अहिन्दी भाषियों के सर्वाधिक प्रिय रचनाकार हैं। आज का पाठक उनकी समग्र कृतियों को पढ़ने का अरमान रखता है। मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना पाठक के उसी अरमान को पूरा करने की ओर एक कदम है।

राष्ट्रकवि की गरिमा से दीप्त-प्रदीप्त मैथिलीशरण गुप्त का कृती व्यक्तित्व और उनकी असीम सर्जनात्मक क्षमता किसी भी सुमनस को मोहने और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। उनके सर्जन में हमारी परम्परा के पुरखे बोलते हैं। आधुनिक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन, नवजागरण, सत्याग्रह-युग और नेहरू-युग का विचार-मन्थन गुप्त जी की रचना-दृष्टि के उत्तमांश को सामने लाता है। यह रचना-दृष्टि अपनी व्यापकता और गहराई में समाज के आर-पार देखने की क्षमता रखती थी। इतिहास-पुराण, मिथक, प्रतीक, रूपक उनकी लेखनी का पारस स्पर्श पाकर अपनी जड़ता खो बैठा और साहित्य कालजयी या क्लासिक शक्ति धारण कर लेता है। सच बात तो यह है उनके वैष्णव संस्कारों, विचारों, अभिप्रायों से काल का डमरू ऐसे बजा है कि उसमें से प्रेरणा का नाद फूट रहा है।

मैथिलीशरण गुप्त की वाचिक परम्परा से प्राप्त प्रतिभा ने हिन्दी के साथ भारतीय साहित्य के एक विशाल लोक-चित्त को प्रेरित एवं प्रभावित किया है। उन्होंने स्वाध्याय से संस्कृत, हिन्दी, बांग्ला, मराठी के साहित्य को रमकर समझा था। वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और अंग्रेजी न जानना उनकी देसी प्रतिभा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उन देसी प्रतिभा की ही यह विजय है कि कवि की स़्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर महात्मा गाँधी ने उन्हें 'मैथिली काव्य मान' ग्रन्थ भेंट करते हुए 'राष्ट्रकवि' की उपाधि प्रदान की।

गुप्त जी का कवि कण्ठ ब्रजभाषा में फूटा था। उन्होंने अपने काव्यारम्भ में 'मधुप' और 'रसिकेन्द्र' नाम से कुछ पद्य ब्रजभाषा में लिखे भी। लेकिन शीघ्र ही

वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा प्रभाव शक्ति के कारण खड़ी बोली में कविता करने लगे। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को उँगली पकड़कर पैदल चलना सिखाया और एक दिन इतना परिमार्जित कर दिया कि वह सर्जनात्मक शक्ति से दौड़ने लगी। खड़ी बोली स्वाधीनता आन्दोलन की भाषा रही है—विद्रोह की शक्ति रही है। इस भाषा में प्रान्त नहीं, पूरा देश खुलकर बोला है। यहाँ कहना होगा कि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी काव्य के निर्माता थे और इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व अविस्मरणीय है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण ने हमारी संस्कृति-सभ्यता के इतिहास और साहित्य में विश्वास का जो स्वर उत्पन्न किया था, उसकी अधिकाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति सबसे पहले मैथिलीशरण गुप्त की सर्जनात्मकता में ही हुई। हिन्दी प्रदेशों के साथ भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का मैथिलीशरण गुप्त ने पचास वर्ष तक नेतृत्व किया। गुप्त जी ने अनुभव किया कि लोक-वेदना और लोक-चिन्ता को वाणी दिये बिना कवि-कर्म का दायित्व पूरा नहीं होता। फलतः वे अपने देश और काल की समस्याओं-चुनौतियों के अनुरूप काव्य-सृजन में पूरे मनोयोग से प्रवृत्त हो गये। उन्होंने हिन्दी कविता को रीतिवाद से मुक्त करते हुए देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद विरोध की दिशा में मोड़कर दम लिया। भारतेन्दु और श्रीधर पाठक के बीज-भाव मैथिलीशरण गुप्त के सर्जन में पल्लवित-पुष्पित हुए। आज भी उनकी स्मृति से प्रेरणा की सुगन्ध आती है।

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य-फलक अत्यन्त व्यापक है। भारतीय साहित्य के अतीत और वर्तमान दोनों पर उनकी दृष्टि रही है। रामायण-महाभारत काल के साथ उनका विशेष रागात्मक सम्बन्ध है। वैदिक युग और बौद्धकाल के कई कथानक उन्होंने उत्साहपूर्वक लिए हैं। राजपूतकाल के प्रति भी उनका आकर्षण कम नहीं है। इधर वर्तमान को तो उन्होंने अपनी युग चेतना और काव्य-संवेदना का केन्द्र बनाया ही है। वर्तमान युग के भी कई चरण उन्होंने देखे थे—बालजीवन उनका सांस्कृतिक नवजागरण काल में बीता, यौवन जागरण सुधार-आन्दोलनों के युग में, प्रौढ़ावस्था गाँधी जी के सत्याग्रह-युग में और जीवन का चौथा चरण स्वतन्त्र भारत के नेहरू-युग में। जीवन के सभी सांस्कृतिक-राजनीतिक पहलुओं का उनके काव्य में विस्तार से चित्रण है।

गुप्त जी गाँधी युग के प्रतिनिधि कवि हैं। गाँधी युग की प्रायः समस्त मूल-प्रवृत्तियाँ—अंग्रेजी शासन के अत्याचार और उनके विरुद्ध संघर्ष, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा-आन्दोलन, किसान-मजदूर आन्दोलन, जेल जीवन, स्वतन्त्रता का उल्लास, विभाजन की विभीषिका, गाँधी जी की हत्या, संसद की गतिविधि, महँगाई की समस्या, चीन का आक्रमण, राजभाषा का प्रश्न, दलित-समस्या, उपेक्षिताओं के उद्धार की समस्या, नारी अस्मिता के खौलते प्रश्न, अशिक्षा की समस्या, पाश्चात्य सम्पर्क के शुभ-अशुभ प्रभाव, पारिवारिक जीवन-विधान में होनेवाले परिवर्तन,

ग्राम्य-जीवन का चित्रण आदि। अद्भुत बात यह है कि उनमें प्रगति और परम्परा, आधुनिकता और समसामयिकता, इतिहास और संस्कृति, परिवर्तन और निरन्तरता दोनों का सन्तुलित योग है। युगबोध की दृष्टि से अपने समकालीन साहित्यकारों में वे प्रेमचन्द के समकक्ष खड़े हैं।

उनमें लोक-जीवन, लोक-संवेदना और लोक-चेतना के कारण शुद्ध आभिजात्यवादी तत्त्वों के प्रति आग्रह न था। यह कवि आरम्भ से अन्त तक लोक-मंगलमूलक काव्य-कला, नाट्यकला, अनुवाद-कला आदि की साधना करता रहा। कवि के अपने शब्दों में, 'अर्पित हो मेरा मनुज काय/बहुजन हिताय बहुजन हिताय'। अतः उनकी काव्य-साधना का उद्देश्य है—लोक-कल्याण। आज हम क्या हो गये हैं? इसी क्या का उत्तर देने के लिए उन्होंने समस्त राष्ट्र का आह्वान किया था। वर्तमान का संशोधन करने के लिए यह जानना भी आवश्यक था कि अतीत में हम कौन थे और भविष्य में क्या होंगे? इस प्रकार उनके विचार का केन्द्र है वर्तमान। वे अतीतोपजीवी रचनाकार नहीं हैं। गुप्त जी प्रकृति के कवि नहीं हैं और न व्यापक अर्थों में उन्हें सौन्दर्य का कवि कहा जा सकता है। मूलतः वे मानव-रागों, मानव-सम्बन्धों के कवि हैं। इस दृष्टि से उन्हें वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, तुलसी, भारतेन्दु की परम्परा का रचनाकार कहा जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त परम्परागत अर्थ में आस्तिक हैं—वैष्णव हैं। राम के रूप में ईश्वर के प्रति उनकी अविचल आस्था है। इस तरह उनका मानववाद वैष्णव मानववाद ही है। इस वैष्णव मानववाद में सभी को (हिन्दू, शैव, शाक्त, सिख, मुसलमान, ईसाई सभी) जगह है। वे मुहम्मद साहब पर 'काबा-कर्बला' लिखते हैं, सिख-गुरुओं पर 'गुरुकुल' तथा कार्ल मार्क्स की पत्नी 'जयिनी' पर कविता। कहना होगा कि उनके सृजन-चिन्तन में पश्चिमवाद का 'अदर' या 'अन्य' नहीं है। भारतीय लोक मानस का आस्तिक समाजवाद उनकी 'भारतीयता' है। मैथिलीशरण गुप्त जी की इन्हीं मानववादी प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनाई गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये बारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड—काव्य
2. दूसरा खण्ड—काव्य
3. तीसरा खण्ड—काव्य
4. चौथा खण्ड—काव्य
5. पाँचवाँ खण्ड—काव्य
6. छठवाँ खण्ड—काव्य
7. सातवाँ खण्ड—काव्य
8. आठवाँ खण्ड—काव्य

9. नवाँ खण्ड–मौलिक एवं अनूदित नाटक

10. दसवाँ खण्ड–बांग्ला अनुवाद

11. ग्यारहवाँ खण्ड–अनुवाद

12. बारहवाँ खण्ड–विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा है। किन्तु इस बात का ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके। गुप्त जी के सुपुत्र ऊर्मिलाचरण गुप्त के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। उनके सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं हो पाता। उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद। श्री अरुण माहेश्वरी और वाणी प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और लगन से इस विशाल योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम पाठकों को समर्पित करते हैं। गुप्त जी के रचना-कर्म के 'पाठ' या टेक्स्ट की बहुलार्थकता का इस कार्य से थोड़ा-सा भी विकास सम्भव हुआ तो अपने को कृतकार्य मानूँगा।

–कृष्णदत्त पालीवाल

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007

अनुक्रमणिका

पत्रावली 13-39

महाराज पृथ्वीराज का पत्र (महाराना प्रतापसिंह के प्रति) 17

महाराना प्रतापसिंह का पत्र (पृथ्वीराज के प्रति) 21

क्षत्रपति शिवाजी का पत्र (औरंगजेब के प्रति) 24

औरंगजेब का पत्र (पुत्र के नाम) 27

महारानी सीसोदनी का पत्र (महाराज जसवन्तसिंह के नाम) 30

महारानी अहल्याबाई का पत्र (राघोवा के नाम) 33

रूपवती का पत्र (महाराना राजसिंह के नाम) 36

वैतालिक 41-62

किसान 63-104

प्रार्थना 67

बाल्य और विवाह 71

गार्हस्थ्य 77

सर्वस्वान्त 82

देशत्याग 90

फिजी 94

प्रत्यावर्तन 99

अन्त 102

पंचवटी 105-153

हिन्दू 155-274

भूमिका 157
सिद्ध गणेश करो 165
विस्मृति 167
अभाव 167
स्मृति 169
शौर्य-वीर्य 170
प्रभाव 172
सन्देश 173
आक्रमण 173
विदेश-यात्रा 174
धर्म-प्रचार 175
राजनीति 177
अवतार 177
महत्ता 178
अपमान 178
आशा 179
साधन 180
अवनति के कारण 183
जातीयता 184
फूट 185
स्वाभिमान 186
दौर्बल्य 189
विधवा 190
स्त्रियों के प्रति कर्तव्य 191
शक्ति-संचय 192
अप्रमाद 193
जातीयपर्वोत्सव 193
होली 194
संवत्सर 195
रामनवमी 195
अखती 196
गंगदसहरा 196
श्रावणी 197

जन्माष्टमी	197
नवरात्र	198
विजयदशमी	199
दीवाली	200
युवकों के प्रति	201
गाँवों का सुधार	202
पराया मोह	205
संघ-शक्ति	207
चातुर्वर्ण्य	208
मत-स्वातन्त्र्य	209
अपनों का अनादर	210
प्रतिकार	210
विधर्म	211
जाति-बहिष्कार	213
अछूतों का उद्धार	216
विजातीय	221
धर्मानुशासन	223
तस्य तुष्यति केशवः	225
सहायता	225
स्वावलम्ब	226
कृषि-सुधार	226
प्रचार	228
मृत्युंजय	228
कर्मों का मर्म	229
आत्म-रक्षा	229
प्रतिवासी	231
मन्दिरों का उद्धार	231
मादकता	232
साधु-सुधार	232
मुक्ति	234
शासन	235
सन्तान-संघ	236
मायावाद	238
उच्च कुलों का अन्त	239
सन्तान वृद्धि	240

निस्सन्तान 241
मितव्यय 241
भीतर 243
बाहर 245
भूल-सुधार 246
मोह 247
युग का रोना 248
मन 249
लीक 250
रूढ़ि 250
शास्त्र 250
उपचार 253
चौका 254
प्रगति 255
सम्बल 255
आत्म-गौरव 256
अपनी संस्कृति 257
शक्ति-संचय 258
समन्वय 258
अन्य जातियाँ 259
अंग्रेजों के प्रति 260
पारसियों के प्रति 264
मुसलमानों के प्रति 264
ईसाइयों के प्रति 271
अपना भरोसा 272
अपना उद्देश 273

परिशिष्ट (गीत)

सिद्धि गणेश 277
रामकृष्ण की जय 278
हर हर महादेव 280
भगवती भवानी 282
महावीर की जय 283
हमारा हिन्दुस्तान 284
हरिः ओम 286

पत्रावली

(ऐतिहासिक आधार पर लिखित कुछ पद्यात्मक पत्र)

मैं, अतीत, अब मुक्त हुआ हूँ,
वर्त्तमान! इति युक्त हुआ हूँ,
किन्तु दूर तुझसे न रहूँगा,
पत्र भेज निज वृत्त कहूँगा॥

श्रीगणेशाय नमः

पत्रावली

लंका में प्रिय की वार्त्ता सुनके आंजनेय से।
तुष्ट सीता हमें रक्खें प्रेय के साथ श्रेय से ॥

महाराज पृथ्वीराज का पत्र
(महाराना प्रतापसिंह के प्रति)

[महाराना प्रतापसिंह स्वाधीनता की रक्षा के लिए वन वन भटकते रहे पर उन्होंने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। एक बार कौटुम्बिक विपत्ति के कारण उनका हृदय विचलित हो गया था। इसी से उन्होंने अकबर के साथ सन्धि करने का निश्चय किया था। किन्तु बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज का यह पत्र पाकर वे फिर अपने व्रत पर आरूढ़ हो गये थे।]

स्वस्ति श्री स्वाभिमानी कुल-कमल तथा हिन्दूआसूर्य सिद्ध;
भूरों में सिंह सुश्री शुचि रुचि सुकृति श्री प्रताप प्रसिद्ध।
लज्जाधारी हमारे कुशल युत रहें आप सद्धर्म-धाम;
श्री पृथ्वीराज का हो विदित विनय से प्रेम-पूर्ण-प्रणाम ॥
मैं कैसा हो रहा हूँ इस अवसर में घोर-आश्चर्य-लीन,
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ, सिन्धु संस्था-विहीन!
देखा है, क्या कहूँ मैं, निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र,

देखा है और भी हाँ, अकबर-कर में आपका सन्धि-पत्र!
आशा की दृष्टि से वे पितर-गण किसे स्वर्ग से देखते हैं?
सच्ची वंश-प्रतिष्ठा क्षिति पर अपनी वे कहाँ लेखते हैं?
मर्यादा पूर्वजों की अब तक हममें दृष्टि आती कहाँ है?
होती है व्योमवाणी वह गुण-गरिमा आप ही में यहाँ है ॥
खोके स्वाधीनता को अब हम सब हैं नाम के ही नरेश,
ऊँचा है आपसे ही इस समय अहो! देश का शीर्ष देश।
जाते हैं क्या झुकाने अब उस सिर को आप भी हो हताश?
सारी राष्ट्रीयता का शिव शिव! फिर तो हो चुका सर्वनाश?
हाँ, निस्सन्देह देगा अकबर हमसे आपको मान-दान,
खोते हैं आप कैसे उस पर अपना उच्च धर्माभिमान?
छोड़ो स्वाधीनता को मृगपति! वन में दुःख होता बड़ा है;
लोहे के पींजड़े में तुम मत रहना स्वर्ण का पींजड़ा है!
ये मेरे नेत्र हैं क्या कुछ विकृत कि हैं ठीक ये पत्र-वर्ण?
देखूँ है क्या सुनाता विधि अब मुझको, व्यग्र हैं हाय! कर्ण।
रोगी हों नेत्र मेरे वह लिपि न रहे आपके लेख जैसी;
हो जाऊँ देव! चाहे वधिर पर सुनूँ बात कोई न वैसी।
बाधाएँ आपको हैं बहु विध वन में, मैं इसे मानता हूँ,
शाही सेना सदा ही अनुपद रहती, सो सभी जानता हूँ।
तो भी स्वाधीनता ही विदित कर रही आपको कीर्तिशाली;
हो चाहे वित्त वाली पर उचित नहीं दीनता चित्त वाली ॥
आये थे, याद है क्या, जिस समय वहाँ 'मान' सम्मान पाके,
खाने को थे न बैठे मिसकर उनके साथ में आप आके।
वे ही ऐसी दशा में हँसकर कहिए, आपसे क्या कहेंगे?
अच्छी हैं ये व्यथाएँ, पर वह हँसना आप कैसे सहेंगे?
है जो आपत्ति आगे वह अटल नहीं, शीघ्र ही नष्ट होगी,
कीर्ति-श्री आपकी यों प्रलय तक सदा और सुस्पष्ट होगी।
घेरे क्या व्योम में है अविरत रहती सोम को मेघ माला?
होता है अन्त में क्या वह प्रकट नहीं और भी कान्ति वाला?
है सच्ची धीरता का समय बस यही हे महा धैर्यशाली!
क्या विद्युद्वह्नि का भी कुछ कर सकती वृष्टि-धारा-प्रणाली?
हों भी तो आपदाएँ अधिक अशुभ हैं क्या पराधीनता से?
वृक्षों जैसा झुकेगा अनिल-निकट क्या शैल भी दीनता से?
ऊँघे हैं और हिन्दू अकबर-तम की है महाराजधानी;

देखी है आप में ही सहज सजगता हे स्वधर्माभिमानी!
सोता है देश सारा यवन नृपति का ओढ़ के एक वस्त्र,
ऐसे में दे रहे हैं जगकर पहरा आप ही सिद्धशस्त्र ॥
डूबे हैं वीर सारे अकबर-बल का सिन्धु ऐसा गभीर,
रखे हैं नीर नीचे कमल-सम वहाँ आप ही एक धीर।
फूलों-सा चूस डाला अकबर-अलि ने देश है ठौर ठौर,
चम्पा-सी लाज रक्खी अविकृत अपनी धन्य मेवाड़ मौर!
सारे राजा झुके हैं जब अकबर-तेज आगे सभीत,
ऊँची ग्रीवा किये हैं सतत तब वहाँ आप ही हे विनीत!
आर्यों का मान रक्खा, दुख सहकर भी है प्रतिज्ञा न टाली,
पाया है आपने ही विदित भुवन में नाम आर्यांशुमाली ॥
गाते हैं आपका ही सुयश कवि-कृति छोड़के और गाना!
वीरों की वीरता को सु-वर मिल गया चेतकारूढ़ राना।
माँ! है जैसा प्रताप प्रिय-सुत जन तू तो मुझे धन्य मानें,
सोता भी चौंकता है अकबर जिससे साँप हो ज्यों सिराने ॥
"राना ऐसा लिखेंगे, यह अघटित है, की किसी ने हँसी;
मानी हैं एक ही वे, बस नस नस में धीरता ही धँसी है ॥"
यों ही मैंने सभा में कुछ अकबर की वृत्ति है आज फेरी;
रक्खो चाहे न रक्खो अब सब विध है आपको लाज मेरी ॥
हो लक्ष्य भ्रष्ट चाहे कुछ, पर अब भी तीर है हाथ ही में,
होगा हे वीर! पीछे विफल सँभलना, सोचिए आप जी में।
आत्मा से पूछ लीजे कि इस विषय में आपका धर्म क्या है?
होने से मर्म-पीड़ा समझ न पड़ता कर्म-दुष्कर्म क्या है ॥
क्या पश्चात्ताप पीछे न इस विषय में आप ही आप होगा?
मेरी तो धारणा है कि इस समय भी आपको ताप होगा।
क्या मेरी धारणा को कह निज मुख से आप सच्चा करेंगे?
या पक्के स्वर्ण को भी सचमुच अब से ताप कच्चा करेंगे?
जो हो ऐसा न हो जो हँसकर मन में 'मान' आनन्द पावें,
जीना है क्या सदा को फिर अपयश की ओर क्यों आप जावें?
पृथ्वी में हो रहा है सिर पर सबके मृत्यु का नित्य नृत्य;
क्या जानें, ताल टूटे किस पर उसकी, कीजिए कीर्ति-कृत्य ॥
हे राजन्, क्या आपको यह विदित नहीं, आप हैं कौन व्यक्ति?
होने दीजे न हा! हा! शुचितर अपने चित्त में यों विरक्ति।
आर्यों को प्राप्त होगी स्मरण कर सदा आपको आत्मशक्ति;

रक्खेंगे आपमें वे सतत हृदय से देव की भाँति भक्ति।
शूरों के आप स्वामी यदि अकबर की वश्यता मान लेंगे,
तो दाता दान देना तजकर उलटा आप ही दान लेंगे।
सोवेंगे आप भी क्या इस अशुभमयी घोर काली निशा में?
होगा क्या अंशुमाली समुदित अब से अस्तवाली दिशा में?
दो बातें पूछता हूँ, अब अधिक नहीं, हे प्रतापी प्रताप!
आज्ञा हो, क्या कहेंगे अब अकबर को तुर्क या शाह आप?
आज्ञा दीजे मुझे जो उचित समझिए, प्रार्थना है प्रकाश—
मूँछें ऊँची करूँ या सिंर पर पटकूँ हाथ होके हताश?

महाराना प्रतापसिंह का पत्र

(पृथ्वीराज के प्रति)

[पृथ्वीराज का पूर्वोक्त पत्र पाने के पूर्व ही महाराना सन्धि-पत्र के लिए पश्चात्ताप कर रहे थे। उस पत्र को पाकर उन्हें बहुत सन्तोष हुआ। यह पत्र उसी पत्र के उत्तर में लिखा गया है।]

निदाघ-ज्वाला से विचलित हुआ चातक अभी,
भुलाने जाता था निज विमल-वंश व्रत सभी।
अहा! ऐसे ही में जलद सुख का सत्र पहुँचा,
अहो पृथ्वीराज प्रियवर! कृपापत्र पहुँचा ॥
दिया पत्र द्वारा नव-बल मुझे आज तुमने;
बचा ली बाप्पा के विमल-कुल की लाज तुमने।
हुआ है आत्मा का यह प्रथम ही बोध मुझको;
दिखाई देता है न इस ऋण का शोध मुझको।
सु-साथी हैं मेरे विदित कुलदेव ग्रहपति;
बनाये थी मानो मुकुट उनको मध्य जगती।
पड़ा था छाया में, गहन वन में, मैं तरु-तले;
विचारों के सोते उस विजनता में बह चले ॥
उदासी छाई थी, वह समय भी था विकट ही;
क्षुधा-क्षीणा बेटी रुदन करती थी निकट ही।
वहाँ क्या था? राज्ञी विवश मन में धैर्य धरके;
बनाती थी रोटी विरस तृण का चूर्ण करके ॥
न मिथ्या बोलूँगा, उस समय भी मैं विमन था,
नहीं था मैं मानो शव-सम पड़ा शून्य तन था।
मुझे सारी बातें स्मरण अब भी स्वप्न-सम हैं,
बताऊँ मैं कैसे विधि-नियम जैसे विषम हैं।

भविष्यच्चिन्ता ही उस समय थी घोर मुझको;
दिखाई देता था घनतम सभी ओर मुझको।
हरे! क्या होना है, समझ पड़ता है कुछ नहीं,
न होगी क्या मेरी सफल यह आशा अब कहीं ॥
मुझे भी औरों के सदृश वह दासत्व सहके,
पड़ेगा जीना क्या पशु-सम पराधीन रहके!
झुकाना होगा क्या सिर अरि-जनों को अब मुझे,
न होगा आत्मा का हनन करना क्या तब मुझे ॥
न होगी आर्यों की अहह! अब क्या आर्यधरिणी?
हमारी होगी क्या अतल जल में मग्न तरणी?
अनार्यों ही का क्या अब अटल है शासन हरे!
हुआ क्या आर्यों का अब निपट निष्कासन हरे!
हमारे भाई ही बनकर विपक्षी जब यहाँ,
मिले हैं तुर्कों से तब भला मंगल कहाँ?
न होने पाती जो स्फुटित हममें फूट इतनी,
मचाते तो कैसे अरिगण यहाँ लूट इतनी?
गड़े थे पृथ्वी में विपुल विजय-स्तम्भ जिनके,
जिन्होंने थे सौ सौ विधियुत किये यज्ञ गिनके!
बने हैं पापी भी सुकृति सुनके कीर्ति जिनकी,
हुए हैं कैसे हा! पतित हम सन्तान उनकी ॥
विचारों में था यों जिस समय मैं व्याकुल बड़ा,
कि भारी चीत्कार श्रवणकर चौंक, जग पड़ा।
कहूँ हा! देखा क्या प्रकट अपनी मृत्यु-घटना,
अचम्भा है मेरे हत हृदय का ही न फटना ॥
बनी थी जो रोटी विरस तृण का चूर्ण करके,
बचाती बेटी को उस समय जो पेट भरके।
उसे देखा मैंने अपहृत बिड़ालीकृत वहाँ,
न देखा बेटी को अहह! फिर था साहस कहाँ ॥
विधातः! बाप्पा के अतुल-कुल की हा! यह गति;
किसी ने देखी है अवनि पर ऐसी अवनति!
जिन्हें प्रासादों में सुख सहित था योग्य रहना,
उन्हें खाने को भी वन वन पड़े दुःख सहना!
स्वयं मैं ही हूँ क्या इस विपद का कारण नहीं,
व्रतों के पीछे भी जिस विपद में पारण नहीं।

नहीं तो रोते क्यों यह शिशु कि है राज्य जिनका,
मुझे चाहे जो हो पर अहह! क्या दोष इनका ॥
क्षुधा से बेटी का वह तड़पना मैं निरख के;
न हे पृथ्वीराज! स्थिर रह सका धैर्य रखके।
मुझे आत्मा की भी सुध-बुध न हा! रंचक रही,
क्षमा कीजे मेरी यह अबलता—केवल यही ॥
न सोचा मैंने हा! कि यह सब है दैव-घटना;
स्व-कर्त्तव्य से समुचित नहीं नेक हटना।
विधाता जो देवे ग्रहण करना ही उचित है;
उसी की इच्छा में सतत शुभ है और हित है ॥
कहीं सोचा होता धृति सहित मैंने यह तभी,
न होता तो मेरा यह पतन आकस्मिक कभी।
सहारा देते जो तुम न मुझको सम्प्रति वहाँ,
न जाने होता तो उस पतन का अन्त न कहाँ ॥
तुम्हारी बातें हैं ध्वनित इस अन्तःकरण में,
पुनः आया मानो अखिलपति की मैं शरण में।
यही आशीर्वाणी अब तुम मुझे दो हृदय से,
न छोड़ूँ जीते जी यह व्रत किसी विघ्न-भय से ॥
यही आकांक्षा है, जब तक रहूँ देह-रथ में,
किसी भी बाधा से विचलित न होऊँ स्वपथ में।
जिसे आत्मा चाहे सतत उसका साधन करूँ,
उसी की चिन्ता में रहकर सदा चिन्तित मरूँ,
तुम्हारी वाणी है अमृत, कवि जो हो तुम अहो!
जिया हूँ मैं मानो मरकर पुनः पूर्व-सम हो।
सहूँगा दुःखों को सतत फिर स्वातन्त्र्य-सुख से,
करूँगा जीते जी प्रकट न कभी दैन्य मुख से ॥
तुम्हारा 'पत्ता' है जब तक, सहे क्यों न विपदा,
करो मूँछें ऊँची तब तक सखे! 'पीथल' सदा।
सुनोगे तुर्कों को न तनु रहते शाह हमसे,
वहीं—प्राची में ही—रवि उदित होगा नियम से ॥

क्षत्रपति शिवाजी का पत्र

(औरंगजेब के प्रति)

['जजिया' नाम का कर लगाने के विरुद्ध महाराज शिवाजी ने यह पत्र औरंगजेब को लिखा था। कोई कोई इसे महाराना राजसिंह का लिखा बतलाते हैं। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाण शिवाजी के ही पक्ष में है।]

विश्वात्मा ही निखिल-नुति के योग्य है एक मात्र,
पृथ्वी में हैं प्रवर-पद से आप भी स्तोत्र-पात्र।
रक्खे चाहे सतत मुझको आपसे दूर दैव,
क्षेमाकांक्षी तदपि मन से आपका हूँ सदैव ॥
जो सेवा मैं जब कर सकूँ, दीजिएगा निदेश;
मेरी इच्छा सतत यह है हों सुखी सर्व देश।
जैसे मैं हूँ श्रम कर रहा हिन्द के मंगलार्थ,
औरों के भी हित अटल हूँ, जानिएगा यथार्थ ॥
भद्राकांक्षी यह कुल रहा आपका आदि ही से,
उत्साही हूँ कुछ कथन को आज मैं भी इसी से।
ऐसा मौका यदपि मुझको ताप ही के लिए है,
होगा जैसा सु-फल इसका आप ही के लिए है ॥
मेरे पीछे नियत करके दीर्घ सेना सरोष,
खाली हैं जो अब तक किये आपने द्रव्य-कोष।
तत्पूर्त्यर्थ प्रजा-कर जो हैं प्रचुर-प्राणहारी,
ऐसी हूँ मैं खबर सुनता, हैं किये हाल जारी ॥
पूछूँ क्या मैं ग्रहण करते आपने यों कुरीति,
सोची है क्या तनिक अपने पूर्वजों की सुनीति?
थे क्या ऐसा कर न सकते वे महाशक्तिशाली,
किंवा थी क्या अविदित उन्हें राजसत्ता-प्रणाली!

श्रीमान् सम्राट अकबर जिन्हें है मिली कीर्ति-कान्ति,
रक्खे थे वे किस तरह से राज्य में पूर्ण शान्ति।
हिन्दू है या यवन, उनको था न यों भेद कोई;
वे थे ऐसे प्रभु सब प्रजा नित्य निश्चिन्त सोई ॥
उत्साही थे सतत जिनके कार्य में आर्य-वीर,
थे ऐसे ही सुहृदय सुधी श्रीजहाँगीर धीर।
है वैसे ही विदित सबको नीति शाहेजहाँ की;
बातें हैं ये स्मरण रखिए, आप ही के यहाँ की ॥
था औदार्य प्रकट कितना आपके पूर्वजों में;
हैं यद्यपि प्रथित उनके नाम धर्म-ध्वजों में!
जाते थे वे नर-वर जहाँ थे वहीं सिद्धि पाते;
क्या हिन्दू क्या यवन उनके हैं सभी गीत गाते ॥
सर्व-प्रेमी बनकर न वे पा सके कौन सिद्धि?
हिन्दू-द्वेषी बनकर हुई आपको कौन वृद्धि?
कोई देखे कि अब तक से वृद्धि क्या, ह्रास ही है;
हाँ जो कोई अब बढ़ रहा तो प्रजा-त्रास ही है!
होता जाता दिन दिन न क्या आपका तेज धीमा?
धीरे-धीरे कट-छँट रही आपकी राज्य-सीमा।
जो ऐसी ही हलचल रही और आगे विशेष,
तो जावेंगे निकल कर से दूसरे भी प्रदेश ॥
सोचें श्रीमन् इस समय है राज्य की क्या अवस्था,
देखें कैसी गड़बड़ हुई न्याय-संस्था-व्यवस्था।
उत्पातों में पड़कर प्रजा हो रही दीन-हीन,
राज्यक्रान्ति प्रचलित हुई, हो गयी शान्ति लीन!
हिन्दू जो हैं, हतविधि हुए मृत्युकालावसन्न,
होते जाते यवन जन भी चित्त में अप्रसन्न।
व्यापारी हैं विवश लुटते, रो रही है रियाया,
कोई भी कुछ न सुनता घोर अन्धेर छाया ॥
दैन्यावस्था अति बढ़ रही, हो रहा देश नष्ट;
सेना को है विरत करता वेतनाभाव-कष्ट।
यों खाली हैं अब जब हुए आपके ही खजाने,
होगी कैसी पर-जन-दशा, सो भला कौन जाने!
खाने को है कुछ न जिनके, रात को लोग ऐसे,
मारे मारे सब भटकते वायु में मेघ जैसे।

ऐसे दीनों पर कर कड़े ठीक है जो लगाना,
तो पृथ्वी में अब कठिन है न्याय का नाम पाना ॥
होके एक स्वर कह रहा देश का देश ऐसे—
आर्य-द्वेषी अतिशय हुए आप, हों शत्रु-जैसे।
भूले सारी स्वकुल गरिमा, साधुओं को सताते,
लेने जाके वह कर कड़ा हैं महत्ता बताते ॥
विश्वासी हैं उस पर कि जो ज्ञान है ईश्वरीय;
तो मानेंगे परमपति को आप भी अद्वितीय!
हिन्दू हों या यवन, सब हैं तद्दयादृष्टि पात्र,
सर्वव्यापी जनक सबका है वही एक मात्र ॥
विश्वात्मा के निकट सब हैं एक से, भेद क्या है?
स्वामी है सो विदित सबका क्या किसी एक का है?
नामों से है कुछ न उसमें भिन्नता-भेद-भाव;
न्यारी न्यारी अकृति-रचना है उसी का प्रभाव ॥
गाते मुल्ला गुण मसजिदों में उसी के, तुम्हारे,
पूजा जाता प्रभुवर वही मन्दिरों में हमारे।
यों दोनों ही विधि से हैं उसको रिझाते,
अज्ञानी हैं नर बस वही जो उसे भूल जाते ॥
जो हो आगे बस अब यही आपको है जताना—
स्रष्टा को है कुपित करना दूसरों को सताना।
तोड़ें पौधे यदि हम किसी बाग के भिन्न भिन्न,
तो क्या माली हम पर न हो क्रोध के साथ खिन्न?
है ऐसा ही कथन मुझको अन्त में वार वार,
है आर्यों के हित यह कर क्रूर पापानुसार।
हो जावेगा गलित इससे शेष भी शान्ति-लेश,
हैं अन्यायी अधम नृप के योग्य ऐसे निदेश ॥
हाँ, जो ऐसे कलुष-कर से आप खींचे न हाथ,
तो ले देखें प्रथम उनसे, हैं न आँवेरनाथ!
माँगें पीछे मुझ प्रणयि से स्वस्थ हो एक वार,
शूरों को है समुचित नहीं मक्खियों का शिकार ॥

औरंगजेब का पत्र

(पुत्र के नाम)

[अन्त समय आने पर औरंगजेब की आँखें खुली थीं। उस समय उसे अपनी करतूतों पर बड़ा खेद और पश्चात्ताप हुआ। इस सम्बन्ध में उसने अपने पुत्रों के नाम कई पत्र लिखे थे। यह पत्र उन्हीं में से एक है।]

प्रिय सुत, अब मेरा आ गया काल-सा है,
इस समय तुम्हारी भेंट की लालसा है।
तनु शिथिल हुआ है, क्षीणता छा गयी है,
अति जटिल जरा की जीर्णता आ गयी है॥
जिस तरह अकेला था न आया वहाँ से,
इस समय अकेला जा रहा हूँ यहाँ से।
अवनि पर रहा मैं अज्ञ-यात्री सरीखा,
शुभ-पथ मुझ स्वार्थी अन्ध को था न दीखा॥
अहह! वह भविष्यत् है पराधीन मेरा,
बस यह अब आगे दीखता है अँधेरा!
विधि-विहित न मैंने राज्य का भोग जाना,
अब कठिन मुझे है पूर्व का योग पाना॥
अवनि पर किसी की की न मैंने भलाई,
अविरत मनमानी मूढ़-सत्ता चलाई।
अहित-सहित जाना पाप को भी न मैंने,
पल भर पहचाना आपको भी न मैंने॥
सु-पथ पर चलाती अन्तरात्मा वही थी,
पर मति-गति मेरी दूसरी ही रही थी।
मद-सहित किया था लोभ ने दृष्टि-रोध;
कुछ कर न सका मैं आत्म-विज्ञान बोध॥

वह निज कृति ज्यों ही है मुझे याद आती,
धक धक जलती है धैर्य्य को छोड़ छाती।
न समझ पड़ता है कौन-से ठौर क्या है,
बस अब पछताना शेष है और क्या है ॥
यदपि अमर कोई है नहीं विश्व-बीच,
तदपि मरण से हूँ भीत मैं निन्द्य-नीच।
सिर पर यम का है दीखता दीर्घ-दण्ड;
अहह! नरक-पीड़ा पा रहा हूँ प्रचण्ड ॥
प्रभुवर परमात्मा है दया दृष्टि-धारी,
पर विदित वही है साथ ही न्यायकारी ॥
प्रकट जब क्षमाशा है किसी भाँति होती,
झटपट उसको है पाप-चिन्ता डुबोती ॥
जिस तनु-हित मैंने भोग कोई न छोड़ा,
बस मुँह उसने भी अन्त में आज मोड़ा।
यह प्रतिफल मैंने ठीक ही आज पाया;
सब कुछ करवाती धन्य तू मोह-माया!
धन-बल कुछ भी मैं था नहीं साथ लाया;
सब विभव यहीं था आप मैंने कमाया।
पर न सुकृत से था हाय! मेरा कमाना,
अब कलुष बिना है और क्या साथ जाना ॥
किस विध अब मेरा दैव! उद्धार होगा?
वह प्रतिफल कैसे जायगा हाय! भोगा?
बहुत विवश हूँ मैं, क्या करूँ, आ पड़ी है;
चपल-तरणि मेरी चक्र में जा पड़ी है ॥
शुभ-अशुभ यहाँ जो कार्य मैंने किये हैं,
यह सच कहता हूँ, वे तुम्हारे लिए हैं।
मुझ पर मत लाना दोष कोई कदापि;
बस तव-हित हूँ मैं पुण्यकारी कि पापी ॥
सुध-बुध सब मेरी जी चुराने लगी है;
कमर झुक गयी है दृष्टि जाने लगी है।
बल-सहित सभी ने ले विदा पीठ फेरी,
अब तुम स्वजनों से भी विदा शेष मेरी ॥
रह रह उठती है चूक की आज हूक,
यह कठिन कलेजा हो रहा टूक टूक।

समय गत हुआ है शेष है क्या उपाय;
शर निकल चुका है हाथ से हाय! हाय!
अघ-घट अपने मैं फोड़के जा रहा हूँ,
नय-नियम यहाँ के तोड़के जा रहा हूँ।
इस तनु तक को भी छोड़के जा रहा हूँ,
बस अपयश को ही जोड़के जा रहा हूँ!
प्रथम कुछ न आया ध्यान में हाय! मेरे,
बस अब फिरना है मौत के साथ फेरे।
इस समय कहाँ हूँ, कौन हूँ, मैं अरे रे!
सब तरफ मुझे हैं शोक-सन्ताप घेरे ॥
तनय! तुम किसी को व्यर्थ पीड़ा न देना;
फल कुछ करने के पूर्व ही सोच लेना।
पथ-विगलित होके पा रहा ताप ही मैं,
कु-फल चख रहा हूँ पाप का आप ही मैं ॥
फिर न मिल सकेगी व्यर्थ वेला न खोना;
सतत मधुरभाषी नम्रतायुक्त होना।
सरल सरलता है वाक्य-विन्यास ही में,
गरल बरसता है वाक्य-विन्यास ही में ॥
प्रथम तुम सदा ही युक्ति से काम लेना,
मत पद पद में ही शक्ति का नाम लेना।
भरसक अपने में दोष आने न पावे,
यह मन विषयों की ओर जाने न पावे ॥
जब कि तुम किसी को व्यर्थ ही दुःख दोगे,
ध्रुवतर तब मेरी हानि के हेतु होगे।
इस समय तुम्हीं से अन्तिमाशा लगी है,
अब अधिक कहूँ क्या, जानता एक जी है ॥
पढ़कर यह मेरा पत्र हे पुत्र! प्यारे,
सतत सजगता से कीजियो काम सारे।
मत तुम यह मेरा भूल जाना कलाम,
बस अब चलता हूँ, आखिरी है, सलाम ॥

महारानी सीसोदनी का पत्र

(महाराज जसवन्तसिंह के नाम)

[राज्य-प्राप्ति के लिए औरंगजेब और दारा का जो युद्ध हुआ था उसमें जोधपुर के महाराज ने दारा का साथ दिया था। पर अनेक कारणों से औरंगजेब की जीत हुई। महाराज जसवन्तसिंह युद्ध से विरत होकर जोधपुर गये। परन्तु उनकी महारानी ने उनके हारकर लौटने पर बड़ा क्रोध किया। सुनते हैं, उसने किले का फाटक भी बन्द करा दिया था। इसी सम्बन्ध में यह पत्र है।]

हे ना-कहीं, नाथ नहीं कहूँगी,
अनाथिनी होकर ही रहूँगी।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे,
तो भागते क्या फिर पीठ फेरे,
यथार्थ ही क्या मुँह को छिपाये?
संग्राम से हो तुम भाग आये?
धिक्कार है हा! अब क्या करूँ मैं,
रक्खी कहाँ मौत कि जो मरूँ मैं।
हा! पीठ वैरी दल को दिखाके,
त्यों हार माथे पर यों लिखाके।
आये दिखाने मुँह को यहाँ क्या?
भला बनेगा तुमसे कहाँ क्या?
परन्तु मैं होकर वीर-बाला,
जो लोक में है करती उजाला।
देखूँ तुम्हारा मुँह आज कैसे?
सहूँ कहो तो यह लाज कैसे?
आये यहाँ क्या छिपने घरों में?
या रानियों के घन-घाँघरों में?

परन्तु भागे तुम भीरु ज्यों ही,
हुए कहो क्या हत वे न त्यों ही?
जो मृत्यु की थी इस भाँति भीति,
जो मेंटनी थी निज रीति-नीति।
तो जन्म क्यों सत्कुल में लिया था?
क्यों ब्याह राना-कुल में किया था?
जयाब्धिजा को न वरा गया जो,
न युद्ध का सिन्धु तरा गया जो,
तो क्या मरा भी न गया समक्ष,
डूबा सभी हा! तुमसे स्वपक्ष!!
राठौर! क्या लाज तुम्हें न आई,
जो कीर्ति दोनों कुल की मिटाई!
क्या देह से है यश हाथ! छोटा,
या मृत्यु से है अमरत्व खोटा?
संग्राम में जो तुम काम आते,
तो लोक में निश्चल नाम पाते।
मैं भी सती होकर धन्य होती,
न क्षत्रिया होकर आज रोती ॥
न भाग्य में था यह किन्तु मेरे,
दुर्दैव, हैं ये सब काम तेरे।
तू जो करे सो सब ठीक ही है,
मनुष्य विश्वास अलीक ही है ॥
माँ, मेदिनी, तू फट, मैं समाऊँ,
कुकीर्ति से जो अब त्राण पाऊँ।
न लोक में मैं यदि जन्म पाती,
तो भीरु-भार्या फिर क्यों कहाती ॥
नहीं नहीं, मैं यदि भीरु-भार्या,
तो कौन होगी फिर और आर्या?
हाँ, है तुम्हीं ने कुल-लाज खोई,
परन्तु मेरे तुम हो न कोई!!
सीसोदियों के बनके जमाई,
है कीर्ति अच्छी तुमने कमाई!
आयी तुम्हें लाज न नाम की भी,
रक्षा न होगी अब धाम की भी!

सुना तुम्हें था वर-वीर मैंने,
सौंपा तभी था स्वशरीर मैंने!
यथार्थता किन्तु मुझे तुम्हारी,
हुई अभी है यह ज्ञात सारी ॥
विशाल वक्षस्थल, दीर्घ-भाल,
आजानु लम्बे युग बाहु-जाल।
थे देखते हो भर के तुम्हारे,
ज्यों चित्र में अंकित अंग सारे ॥
या क्षत्रियों का वह उष्ण-रक्त,
हुआ यहाँ लौं अब है असक्त।
बहा सके जो न विपक्षियों को,
दुराग्रही गो-धन-भक्षियों को ॥
दैवात् कभी शत्रु कुदृष्टि लावें,
सोत्साह मेरे हरणार्थ आवें।
तो क्या मुझे भी तुम छोड़ भागो?
आश्चर्य क्या जो मुँह मोड़ भागो!
विश्वास क्या भीत पलातकों का?
स्वकर्म व धर्म-विघातकों का?
कर्त्तव्य से जो च्युत हो चुके हों,
क्या है जिसे वे न डुबो चुके हों?
जाओ, यहाँ से तुम लौट जाओ,
तुम्हें यहाँ स्थान कहाँ कि आओ।
हो शून्य तो भी यह सिंह-पौर,
है गीदड़ों को इसमें न ठौर ॥
चाहे अवज्ञा करके तुम्हारी,
मैंने किया हो अपराध भारी।
परन्तु मैं होकर क्षत्रियाणी,
कैसे कहूँ हा! न यथार्थ वाणी?
मेरा-तुम्हारा न मिलाप होगा,
हा! शान्त कैसे यह ताप होगा।
विश्वेश लेवें सुध शीघ्र मेरी,
देवें मुझे मृत्यु करें न देरी ॥

नोट—ऐतिहासिकों की राय में यह रानी हाड़ी थी। इसके अनुसार 'राना' के बदले 'हाड़ा' और सीसोदियों के बदले 'हाड़ाजनों' पढ़ा जा सकता है।

महारानी अहल्याबाई का पत्र

(राघोवा के नाम)

[महारानी अहल्याबाई का दीवान गंगाधर स्वार्थवश उनके विरुद्ध राघोवा दादा पेशवा को चढ़ा लाया था। इसी सम्बन्ध में महारानी अहल्याबाई ने यह पत्र लिखा था। युद्ध में विजय भी उन्हीं की हुई थी।]

जो आप आकर यहाँ करने लड़ाई,
देने चले समर में मुझको बड़ाई।
मैं धन्य भाग्य अपना यह जानती हूँ;
मैं भी अवश्य कुछ हूँ, यह मानती हूँ ॥
होता कहीं न मुझमें बल का विकास,
तो व्यर्थ आप फिर क्यों करते प्रयास?
विख्यात वीर करते जिससे विरोध,
होती किसे फिर भला तुच्छ-बोध?
ऐसा महत्त्व अति दुर्लभ है सदैव;
मैं हूँ कृतज्ञ इसके हित सर्वथैव।
दूँ आपको यदि न मैं शत साधुवाद,
होगा भला न फिर क्या मुझसे प्रमाद?
लेते विचार पहले परिणाम आर्य,
पीछे सहर्ष करते निज इष्ट कार्य।
कैसे कहूँ फिर कि आप बिना विचारे,
हैं आ रहे समर सज साज सारे?
होते न निर्भ्रम परन्तु सभी विचार;
जो भूल हो उचित है उसका सुधार।
है भ्रान्ति-मूल बहुधा मद और स्वार्थ;
कीजे क्षमा इस यथार्थ निवेदनार्थ ॥

हाँ, तो बजे अब भयंकर युद्ध-भेरी;
हो स्वागतार्थ सब सज्जित सैन्य मेरी!
तैयार हूँ सब प्रकार सदा यहाँ मैं;
आदेश से अलग हो सकती कहाँ मैं?
जो ज्ञात हो उचित आप करें भले ही;
हो हानि-लाभ कुछ भी न डरें भले ही।
लीजे परन्तु, फिर भी इतना विचार,
हो निन्द्य कार्य जिसमें न किसी प्रकार ॥
जो लोभ देकर, दिखाकर मोह-माया,
है आपको मम विरुद्ध उभार लाया।
क्या ज्ञात है यह कि है वह कौन व्यक्ति?
लीजे विचार उसकी कुछ स्वामिभक्ति ॥
मेरे अमात्य वर की यह है बड़ाई;
मेरे विरुद्ध जिसको यह बुद्धि आई।
लाया चढ़ाकर यहाँ वह आपको है;
ऐसा मनुष्य डरता किस पाप को है?
यों मन्त्रि-धर्म जिसने अपना निबाहा,
खाया सदैव जिसका उसको न चाहा।
ऐसे 'महापुरुष' के कथनानुसार,
हैं आप क्या कर रहे, करिए विचार ॥
विद्रोह जो कर रहा मुझसे अभी है,
क्या आपसे कर नहीं सकता कभी है?
जो तुच्छ बात पर छोड़ चुका स्वधर्म,
है क्या भला उस नराधम को अकर्म!
आश्चर्य है कि मति मण्डित आप जैसे,
ऐसे कृतघ्न पर हैं अनुकूल कैसे!
होते प्रलोभ-वश अन्ध अविज्ञ भी क्या?
खोते विवेक सहसा वर विज्ञ भी क्या?
वीराग्रगण्य! यह भी अब सोच लीजे,
हूजे न रुष्ट कुछ और विचार कीजे।
संग्राम का प्रकट क्या परिणाम होगा?
क्या आपका कलह से कुछ नाम होगा?
रक्त-प्रवाह सबसे पहले बहेगा,
दायित्व आप पर ही उसका रहेगा।

आरम्भ हानि परिपूरित है सदैव,
है जानता इति-कथा बस एक दैव!
शोभामयी वसुमती विकराल होगी;
शान्तिस्थली रुधिर पूरित लाल होगी।
होंगे विनष्ट बहु सैनिक लोग व्यर्थ,
तो सोचिए, किसलिए इतना अनर्थ?
होंगे न आप इसके परिणाम-भोगी?
है हेतु अल्प पर हानि विशेष होगी।
श्रीमान् ने उचित कार्य नहीं किया है
जो मान एक खल का कहना लिया है ॥
हाँ, सावधान, वह साँप समीप ही है,
दुर्योग से न दिन और न दीप ही है।
पीछे पड़ा खल-पिशाच भुला रहा है,
विश्वास-घातक अनर्थ बुला रहा है ॥
संग्राम में विजय एक अवश्य पाता,
जाना परन्तु पहले कुछ भी न जाता।
मैं ही पराजित हुई यदि, मान लीजे,
होगी न कीर्ति फिर भी, यह जान लीजे ॥
श्रीमान् को सब महाबल मानते हैं,
है नारि-जाति अबला, सब जानते हैं।
दैवात् परन्तु मुझसे यदि आप हारे,
तो लुप्त ही समझिए निज गीत सारे ॥
जो हो, सचेत कर दे निज शत्रु को भी;
देता हुआ उचित सम्मति हो न लोभी।
मानें न वैर शुभ-भाषण में किसी से,
मैंने किया यह निवेदन है इसी से ॥
कर्त्तव्य पत्र लिखके यह पालती हूँ,
चातुर्य से न अपना भय टालती हूँ।
होना विचूर्ण उस मस्तक का भला है,
जो शत्रु से समय हो झुकने चला है ॥
जो योग्य था कह दिया, अब आप जानें,
है प्रार्थना बस यही कि बुरा न मानें।
जो है भविष्य वह होकर ही रहेगा,
जैसा बहे पवन निश्चय ही बहेगा ॥

रूपवती का पत्र

(महाराना राजसिंह के नाम)

[रूपनगर की राजकुमारी रूपवती ने महाराना राजसिंह की कीर्ति सुनकर मन ही मन, उन्हें वरण किया था। किन्तु संकोच-वश वह अपनी अभिलाषा प्रकट न कर सकी। इसी समय औरंगजेब ने उसके रूप गुण की प्रशंसा सुनकर उसे अपनी बेगम बनाना चाहा तब विवश होकर महाराना को यह पत्र लिखा। कहना बाहुल्य है कि महाराजा ने औरंगजेब की सेना पराजित करके उसका पाणिग्रहण किया और इस कार्य से अपने को कृतकृत्य समझा।]

सिद्धश्री कुल-कीर्ति-कारक कृती चित्तौर-चूरामणि;
राजन्य-वर-धन्य धारक सुधी श्रीराजसिंहाग्रणी।
कैसे पत्र लिखूँ तुम्हें कुलवन्ती मैं क्षत्रिया बालिका,
होती है रुधिर प्रदान करके जो शील संचालिका ॥
साक्षी हैं सुर किन्तु, जो पर नहीं मैं जानती हूँ तुम्हें।
हा लज्जा! कब से अभिन्न अपना मैं मानती हूँ तुम्हें।
तो लो, भेंट-स्वरूप गुप्त अपने हृद्भाव लाके स्वयं,
होती रूपवती पदप्रणत है, प्रत्यक्ष आके स्वयं ॥
आयी हूँ किस हेतु मैं, अब सुनो, भिक्षा मुझे चाहिए;
भिक्षा? हा हतशील! और अव क्या शिक्षा तुझे चाहिए।
मेरा स्वत्व रहा न मृत्यु पर भी रक्षार्थ जो मैं करूँ,
लज्जा भी रहती नहीं यदि यहाँ मैं आज लज्जा करूँ ॥
भिक्षा जीवन की? न, जीवन तुम्हें मैं दे चुकी आप ही,
होता जो अपने अधीन वह तो पाती न सन्ताप ही।
देती आज सहर्ष और रखती लज्जा अनायास ही,
भिक्षा की यह भावना फटकने पाती नहीं पास ही ॥

जो हो, सम्प्रति मैं यहाँ पर बड़ी आपत्ति में हूँ पड़ी,
लज्जा छोड़ समक्ष आज इससे मैं हो गयी हूँ खड़ी।
मेरा विश्रुत नाम ही बन गया मेरे लिए वाम है,
नीचे हो तुम और ऊपर वही धर्माग्रही राम है ॥
भ्राता-रक्त-सिताम्बु, खंग-रसना, साम्राज्य-तृष्णा हरे!
ऐसे भीषण-भूरि-भाव जिसमें हैं पूर्व ही से भरे।
जो है आलमगीर किन्तु जिसकी औरंगजेबी मची!
दूरस्था, शनि-दृष्टि से न उसकी, हूँ आज मैं भी बची!
डोले का फरमान पाकर पिता उन्मत्त-से हो रहे,
ज्वाला से अपमान की जल रहे, वे धैर्य्य हैं खो रहे!
शाही फौज कि जो सगर्व मुझको लेने यहाँ आ रही,
देंगे वे असि-नीर-अर्घ्य उसको है ठान बैठे यही ॥
क्या होगा इससे परन्तु यह भी वे जानते हैं स्वयं,
तो क्या केवल नाश का हठ वृथा वे ठानते हैं स्वयं?
जाते स्कन्ध न क्यों मिलाकर वहाँ आँवेर के स्कन्ध से?
साही मनसबदार क्यों न बनते वे शाह-सम्बन्ध से?
ऐसा उत्तर अन्ततः सहज ही देंगे न सीसोदिया,
देंगे तो फट जायगा प्रथम ही आरावली का हिया।
शूरों के असि-सार रचित भी चित्तौर ढा जायगा,
सारी क्षत्रिय-सृष्टि का, अधिक क्या, कल्पान्त आ जायगा!
छोटे पार्थिव हैं, पिता, इसलिए क्या धर्म को छोड़ दें?
मर्यादा निज कीर्तिमान कुल की वे आप ही तोड़ दें?
छोटा वैभव-वित्त हो, पर कहीं छोटा नहीं धर्म तो,
होता है अपने अधीन सबका कर्त्तव्य या कर्म तो ॥
सो जावें सब एक वार सहसा आँवेर सो जाय जो?
नक्षत्रोदय भी न हो गगन में सूर्यास्त हो जाय जो?
पीछे जो कुछ हो, परन्तु उनकी है धारणा-धी यही—
जीते जी अवमानना न हमसे यों जा सकेगी सही ॥
मेरा क्या मत है नरेन्द्र, अब भी जो जानना है इसे;
मातःपद्मिनि! उत्तरार्थ इसके तो मैं पुकारूँ किसे?
मेरा क्या मत है? तुम्हीं, त्रिदिव से आके बता दो इन्हें,
जो शिक्षा तुम दे गयी जगत से जाके, जता दो इन्हें,
मेरा क्या मत है? मनीषी! मुझसे क्या पूछते हो भला?

पूछो आत्म-सुकीर्ति से कि जिसकी व्योम में भी कला।
क्षत्राणी भय से कि लोभ-वश हो जो धर्म को छोड़तीं,
तो सम्बन्ध अवश्य ही जनकजा लंकेश से जोड़तीं ॥
जो मेरा भुज-पाश शक्ति रखता कीनाश के पाश की,
तो देती गलबाँह मैं यवन को होती क्रिया नाश की।
पा लेता फल लुब्ध पामर अभी स्पर्द्धा-अहंकार का;
कोई साहस भी कभी न करता ऐसे अनाचार का ॥
मैं हूँ किन्तु मनस्वि हाय! अबला-बाला अशक्ता-वशा,
आयी हूँ अतएव मैं शरण में, है शोचनीय दशा।
जानो जो अब योग्य सो तुम करो, मैं भी कहो, क्या करूँ?
जीना या मरना अधीन समझो, जीती रहूँ या मरूँ?
मुक्ता-से गुण कर्ण-शुक्ति-पुट में जो थे तुम्हारे उगे,
मेरे मानस-हंस ने प्रथम ही वे प्रेम से हैं चुगे।
यों तो लोभ असीम है, पर यही था भाग्य मेरा बड़ा,
आयी आज विपत्ति है, इसलिए प्रत्यक्ष होना पड़ा ॥
सच्ची वीर कहानियाँ सुन मुझे होता सदा हर्ष है,
हो जो संकट में परिस्फुट वही भाता जनोत्कर्ष है।
श्रद्धा से वर-वृत्त सब है मैंने तुम्हारे सुने,
कोई भी अपने हितार्थ उनसे चारित्र्य-चर्चा चुने ॥
गाथाएँ सुन, सीख, गाकर अहा! मैं मग्न होती कभी,
साके, जौहर सोच गद्गद हुई आँखें भिगोती कभी।
आता था मन में, क्षमा तुम करो ऐसी बड़ी धृष्टता—
लावे खींच कहीं वही दिन यहाँ मेरी शुभाकृष्टता!
जैसे पूर्वज थे, तुम्हें जब सुना मैंने व्रती साहसी;
आयी बाहर एक साथ उर से आवेग की आह-सी।
ऊँचा था अभिलाष हाय! मन का, मैं तुच्छ थी और हूँ,
कुल्या होकर सिन्धु ओर लपकूँ भूली कहाँ ठौर हूँ ॥
आशा खोकर अन्त में बस यही सोची बड़ी साधना,
काटूँ आयु किसी प्रकार करने मैं ईश्वराराधना।
होती थी वह भी न किन्तु मुझसे निष्काम के भाव से,
इच्छा थी, पर-जन्म में प्रिय, तुम्हें पाऊँ इसी चाव से ॥
लाती थी प्रभु-मूर्ति को जब अहा! प्रत्यक्ष मैं ध्यान में,
पाती थी तब सामने बस तुम्हें अज्ञान या ज्ञान में।

तो भी मैं तुमको किसी विध वहीं पीछे छिपाती रही,
चेष्टा किन्तु न आज मैं कर सकी जो भाग्य है हो वही ॥
मेरे सम्मुख आज भी बस तुम्हीं, प्रत्यक्ष-से हो खड़े,
छाती काँप रही परन्तु भय से, हैं विघ्न पीछे पड़े।
पापात्मा शिशुपाल-सा यवन है, मैं रुक्मिणी-सी फँसी,
मेरे कृष्ण! तुम्हीं, सवेग सुध लो, होने न पावे हँसी ॥

वैतालिक

बन्धु वृन्दावनलाल वर्मा
के
कुशल करों में

उषा ने आँगन लीप दिया;
नव किरणों ने चौक पूर कर मंगल-कलश लिया।
कर्म्मवीर वर उठो, द्विजों ने मन्त्रोच्चार किया;
कीर्ति-बधू के कर-ग्रहण से हुलसे आज हिया ॥

× × ×

प्राची का है काम यही,
कि वह जागरित करे मही।
निद्रा का अवसान करे,
ज्योति जगत को दान करे ॥

श्रीगणेशाय नमः

वैतालिक

श्रीरवि-कुल-मणि रघुनायक,
तुमको रहें दीप्तिदायक।
श्रीसीता धन-धान्य भरें,
उर्वर कर्म्म-क्षेत्र करें ॥
नयी पौ फटी, रात कटी;
तम की अन्तर-पटी हटी।
उठो, उठो, बोलो, बोलो,
खोलो मनो-द्वार खोलो ॥
बन्द किवाड़ न रक्खो अब,
कोई आड़ न रक्खो अब।
रुद्ध साँस बह जाने दो,
शुद्ध समीरण आने दो ॥
हिम-कण उसे उड़ाने दो,
मिथ्या स्वप्न छुड़ाने दो।
उस कल्पित माया से क्या?
प्राण-हीन काया से क्या?
चिर निद्रा का जाल कटे,
युग युग का जंजाल हटे।
हृदय हृदय से लगने दो;
भय भगने, जय जगने दो ॥

उर की आग उभड़ने दो,
प्रेमाहुतियाँ पड़ने दो।
सरस सुगन्धि समाने दो,
मस्तक को बल पाने दो ॥

बने कूप मण्डूक निरे,
रहो घरों में ही न घिरे।
आओ, अब बाहर आओ,
ममता में समता लाओ ॥

विश्व अजिर में प्राप्त रहो,
इस असीम में व्याप्त रहो।
जल, थल, गगन, अनन्त जहाँ,
अन्तवन्त क्या तुम्हीं वहाँ?

कभी नहीं, कह दो सबसे,
मैं भी हूँ अनन्त अब से।
मैं भी स्वाधीनात्मा हूँ,
परमात्मा लीनात्मा हूँ ॥

निश्चय तुम मुक्तात्मा हो,
परमात्मा युक्तात्मा हो।
अजरामर, अविनाशी हो,
तेजोराशि-विकाशी हो ॥

फिर अपने को याद करो,
उठो, अलौकिक भाव भरो।
अपना धैर्य-धर्म्म पालो,
मोहावरण हटा डालो ॥

अब न वस्त्र से मुँह ढाँको,
खिड़की से बाहर झाँको।
उससे वायु आ रही है,
पर यों आयु जा रही है ॥

यह तन सोने को न मिला,
जीवन खोने को न मिला।
आयु गँवाना उचित नहीं;
रहना शुभ संकुचित नहीं ॥

यह काया मृतिका-खनि है,
तो जीवन चिन्तामणि है।
उसकी प्रभा प्रकाश करो,
अन्तर का तम नाश करो ॥
तुम कृतार्थ हो जाओगे,
जो चाहोगे पाओगे।
प्रभु भी उस मणि को पहने,
फीके हों सौ सौ गहने ॥
स्वर्णालोक-पूर्ण नभ है,
जो सूना था सु-प्रभ है।
रहो तुम्हीं क्यों रिक्त हृदय,
करो शुभाशा-सिक्त हृदय ॥
यह सोने की मूर्ति उषा,
नव स्फूर्ति की पूर्ति उषा।
जगा रही है, जगो, जगो,
कर्त्तव्यों में लगो, लगो ॥
वह ललाट सिन्दूर अहा!
देखो, कैसा दमक रहा।
नभस्थली सौभाग्यवती,
देख रही है बाट सती ॥
यह सोने का थाल लिये,
उज्ज्वल उन्नत भाल किये।
सृष्टि तुम्हारे लिए खड़ी,
दृष्टि तुम्हारी किधर पड़ी?
तम की सब कालिमा धुली,
आँख तुम्हारी क्यों न खुली?
निरालस्य सब हो जाओ,
इस श्रेयःश्री को पाओ ॥
हरे पाँवड़े बड़े बड़े,
जिन में लाखों रत्न जड़े।
बिछा चुकी है वसुन्धरा,
उठो, हृदय हो जाय हरा ॥

स्वागतार्थ वह प्रस्तुत है,
गद्गद-सी, शोभा-युत है।
देखो, प्रेम-भरे आँसू,
मोती-से, बिखरे आँसू ॥

जल भी परम उमंग-भरा,
नाच रहा है रंग-भरा।
शत तरंग-कर बढ़ा रहा,
तुम पर अम्बुज चढ़ा रहा ॥

अम्बुज भी हैं खिले हुए,
हेला से कुछ हिले हुए।
रहते हैं वे जल पर यों,
कि तुम रहो भूतल पर ज्यों ॥

रत्नाकर धन-घोष-भरा,
लुटा रहा धन कोष-भरा।
यह अवसर है सोने का,
या सोने में खोने का!

खग उड़ने के लिए तुले,
मधुपों के भी द्वार खुले।
बन्द कपाट तुम्हारे क्यों?
तुम अब भी मन मारे क्यों?

घूम रहे अलि अनलस हैं,
पीते फूलों का रस हैं।
तुम भी बनो गुण-ग्राही,
मौज मिलेगी मन-चाही ॥

वंश वंश वंशीधर है,
एक तान में तत्पर है।
नया श्वास संचार हुआ,
क्या ही कल झंकार हुआ ॥

उत्सुक खग-गण गाते हैं,
प्रिय सन्देश सुनाते हैं।
नाच रहे हैं पर्ण, उठो,
हो जाओ उत्कर्ण, उठो ॥

फूल फूल कर फूल रहे,
वृन्त-दोल पर भूल रहे।
देखो रंग ढंग उनके।
कोमल अमल अंग उनके ॥

खड़े सुरभि उपहार लिये,
अपने को भी हार किये।
सुनो त्याग की इस धुन को,
भृंगालिंगन दो उनको ॥

हरी भरी वर वृक्षाली,
लिये फलों की है डाली।
झौंके आ आ कर किसके,
हाथ चूमते हैं इसके ॥

गुन गुन सगुण गान करके,
मधु मकरन्द पान करके।
मधुकर मुक्त घूमते हैं,
कुसुम कपोल चूमते हैं ॥

भर आये थन गायों के,
उन सदैव की धायों के।
प्रस्तुत है पय पियो, उठो,
नवजीवन से जियो, उठो ॥

खोलो तनिक पलक अब तो,
देखो, एक झलक अब तो।
हम भी सब तुमको देखें,
अपना लो, अपना लेखें ॥

हुआ सकल संसार नया,
खुला प्रकृति का द्वार नया।
कौतुक देखो, उठ बैठो,
तुम उसके भीतर पैठो ॥

कण कण में वह सत्ता है,
जिसकी नहीं इयत्ता है।
जो न समा कर जल, थल में,
भरी गगन, अनिलानल में ॥

उसके चमत्कार देखो,
सबमें एक सार देखो।
जड़ में चेतनता आई,
प्रतिमा में प्रभुता छाई ॥
नव्य आरती सजो, उठो,
भव्य भारती भजो, उठो।
कार्य्य शक्ति का दर्शन लो,
आर्य्य-भक्ति का स्पर्शन दो ॥
किरणों की मार्जनी चली,
हुई सूर्य्य की स्वच्छ गली।
बन्द तुम्हारा ही पथ क्यों?
रुद्ध विशुद्ध मनोरथ क्यों?
कब से तुम न गये आये,
घास-पात पथ पर छाये।
किन्तु हिचकिचाहट न करो,
उनके सिर पर पैर धरो ॥
ऊर्ध्व करों से दिव-दल को,
निम्न करों से भूतल को।
रवि ने मानों एक किया,
दोनों को आलोक दिया ॥
अरुण किरण लेखाएँ ये,
पूर्व-भाग्य रेखाएँ ये।
सुवर्णार्थ पात्राएँ ये,
गूढ़ाक्षर मात्राएँ ये ॥
छन्दोरचनाएँ रवि की,
कविताएँ अनन्त कवि की।
आहुतियाँ अनादि हवि की,
छुटी छटाएँ हैं छवि की ॥
या अनुराग सदन-सतियाँ,
पुण्यश्लोक-पंक्ति-गतियाँ।
कर कर के नीरव बतियाँ,
जगा रहीं मन की मतियाँ ॥

प्रेम - शृंखला मालाएँ,
बोधोदय की बालाएँ।
यद्यपि कुछ तरलाएँ हैं,
पर कितनी सरलाएँ हैं ॥

कनक-कमल-केसर-कलियाँ,
ज्ञान-गिरा गुण की गलियाँ।
या कि कर्म्म की कृतियाँ हैं,
भक्ति-भावना-भृतियाँ हैं ॥

देवलोक की दाराएँ,
सुरभी की पय धाराएँ।
गणनाएँ प्रकाश गुण की,
लोल लटें बालारुण की ॥

ये जीवन जल की नलियाँ,
मारुत मण्डल की स्थलियाँ।
प्रकृति-नियम की पद्धतियाँ,
काम वर्ग की रुचि रतियाँ ॥

छवियाँ अतुल चित्रपट की,
कि कलाएँ नागर नट की।
गुण-रज्जुएँ अमृत घट की,
शाखाएँ विराट-वट की ॥

बालें नभःक्षेत्र कृषि की,
पिंग जटाएँ ऋतु-ऋषि की।
कल्प लताएँ ये कब की,
नयन शलाकाएँ सबकी ॥

भव की नीरव भाषाएँ,
उज्ज्वल उर की आशाएँ।
सूत्र वृत्तियाँ हाटक की,
नटियाँ नैतिक नाटक की ॥

दीप-वर्तियाँ दिव की हैं,
जड़ी बूटियाँ शिव की हैं।
ये हरिचक्र प्रखर आरें,
तुम्हें तमोगुण से तारें ॥

सहस्राक्ष की ये आँखें,
रंग - विहंगों की पाँखें।
शत शत दृष्टि-यष्टियाँ हैं,
वासर-विभा-वृष्टियाँ हैं ॥

चमरराजियाँ ये किसकी?
स्फुरित शिराएँ हैं जिसकी।
विश्व कोष तालियाँ यही,
बुद्धि-तन्तु-जालियाँ यही ॥

प्रेमांजलियाँ पूषा की,
पुलकावलियाँ ऊषा की।
अंगुलियाँ दिग् द्रष्टा की,
वर्ण-तूलिका स्रष्टा की,

सजग ज्योतियाँ स्थिर जप की,
मन्त्र कुशाएँ चिर तप की।
ये सब तुम्हें पवित्र करें,
अनुदिन अखिल अरिष्ट हरें॥

हैं जो इष्ट अपेक्षाएँ,
उन सबकी उत्प्रेक्षाएँ।
ये स्वर लिपियाँ नयी पढ़ो,
गाओ जीवन गीत, बढ़ो ॥

रवि पश्चिम को जाता है,
वहाँ ज्योति फैलाता है।
फिर प्राची को आता है,
ललित लालिमा लाता है ॥

आवागमन युक्त रवि है,
पर निष्काम मुक्त रवि है।
यही तुम्हारा भी क्रम हो,
मित्र, तभी सार्थक श्रम हो ॥

दुर्गति में सन्तोषी हो,
तो तुम प्रभु के दोषी हो।
उसने जो भव-विभव दिया,
उसे आप तुमने न लिया ॥

त्याग, त्याग पर वह किसका?
प्रथम प्राप्त तो हो जिसका।
प्राप्त करो तब त्याग करो,
समुचित कर्म-विभाग करो ॥
प्रेय छोड़ कर श्रेय लिया,
तो भी क्या कर्तृत्व किया।
स्वयं प्रेय में श्रेय रहे,
और ध्येय में ज्ञेय रहे ॥
जुड़ा जगत का मेला है,
क्या यह सभी झमेला है?
खेल कौन यह खेल रहा?
क्यों इतना श्रम झेल रहा?
भुवन-भीड़ में बिना घुसे,
पाओगे किस भाँति उसे?
जी में जिसकी चाह भरी,
कह दें किसकी आह भरी?
कहते हो कि कहाँ है वह?
देखो जहाँ, वहाँ है वह।
किसी ओर ग्रीवा मोड़ो,
कन्धे से कन्धा जोड़ो ॥
परिवर्तित कर दृश्य पटी,
नाट्य कर रही प्रकृति नटी।
सूत्रधार के बिना कभी,
रहती यह शृंखला सभी?
वह अपने छात्रों में है,
परिवर्तित पात्रों में है।
पर है प्रकट क्रिया उसकी,
देगी पता प्रिया उसकी ॥
जो भव-नाटक स्रष्टा है,
वही नाट्य का द्रष्टा है।
पात्र बनो सब खेल करो,
आप अलग हो, तुम न डरो ॥

श्री शुक ने सबको छोड़ा,
रम्भा से भी मुँह मोड़ा।
किन्तु विदेह कर्म्मयोगी,
मुक्त रहे, रह कर भोगी ॥
प्रकृति पुरुष की है क्रीड़ा,
कभी विकास कभी व्रीड़ा।
जीव, ब्रह्म-माया न तजो,
शिव को शक्ति समेत भजो ॥
ऊँचे चढ़ो, खड़े हो तुम,
इतने बढ़ो, बड़े हो तुम।
तुम्हें प्रलोभन छू न सकें,
आशा छोड़ें, अलग तकें ॥
पड़े पड़े पछताओगे,
पैरों से पिस जाओगे।
गिरने के डर से पड़ना,
मृत्यु मार्ग में है अड़ना ॥
जीते हो कि मरे हो तुम?
मुर्दा बने धरे हो तुम!
जय है यहाँ प्राण पण में,
मरण कहाँ जीवन रण में?
जाने दो सब बातों को,
आने दो आघातों को।
तुम केवल कुछ कड़े रहो,
आत्मव्रत पर अड़े रहो ॥
चला करे संसार पवन,
ढा न सकेगी मनोभवन।
बाहर कर्म-क्रान्ति रहे,
भीतर अविचल शान्ति रहे ॥
पश्चिम तक प्रकाश फैला,
जागा वह छवि का छैला।
उड़ने लगीं लाल मुनियाँ,
है बस गयी नयी दुनियाँ ॥

बस कर तुम्हीं उजड़ते हो,
बन कर स्वयं बिगड़ते हो।
मानों, अब यों पिछड़ो मत,
उठो, विश्व से बिछड़ो मत ॥

वह भौतिक उन्नति देखो,
सब विषयों की अति देखो।
वह अप्रतिहत गति देखो,
प्रकृति-विजय-पद्धति देखो ॥

नहीं काम से थकते वे;
जो चाहें कर सकते वे।
कहाँ पक्ष से मुड़ते हैं,
अम्बर में भी उड़ते हैं ॥

जो मस्तक में लाते हैं,
कर से कर दिखलाते हैं।
सागर उनका घर सा है,
डर को भी कुछ डर सा है ॥

वे स्वतन्त्र दृढ़ चेता हैं,
अद्भुत यन्त्र प्रणेता हैं।
विद्युद्वाष्प विजेता हैं,
बने विश्व के नेता हैं ॥

मिट्टी भी छू लेते हैं,
तो सोना कर देते हैं।
वे साहस के पाले हैं,
अति अपूर्व बल वाले हैं।

वाहन उनके वायु भरे,
जीवित लोह-स्नायु भरे।
बाजे उनके गाते हैं,
चित्र नाट्य दिखलाते हैं ॥

कोरी बातों से बचते,
नहीं धुवें के पुल रचते।
किन्तु उसे भी धरते हैं,
और प्रज्वलित करते हैं ॥

सड़ते नहीं सुफल उनके,
विफल नहीं कौशल उनके।
वे जो आशा-वादी हैं,
उद्यम के उन्मादी हैं ॥

पण्यवीथियाँ भूतल की,
भारी से लेकर हलकी।
उनकी आय-साक्षिणी हैं,
वर व्यवसाय-साक्षिणी हैं ॥

विभव उन्हें अपनाते हैं,
आप खोजते आते हैं।
वे उनसे घर भरते हैं,
सब विघ्नों को तरते हैं ॥

बच्चे भी कब हैं जकते,
नहीं पराया मुँह तकते।
बाप जमा कर जाते हैं,
आप कमा कर खाते हैं ॥

वे अविचल उद्योगी हैं,
तब भव-वैभव-भोगी हैं।
हैं कुछ करने के सनकी,
धुन है नित्य नयेपन की ॥

स्वावलम्ब की साध उन्हें,
भिक्षा है अपराध उन्हें।
रखते हैं उद्देश सभी,
होते नहीं हताश कभी ॥

शक्ति-समाराधक सब हैं,
देश-भक्ति-साधक सब हैं।
प्रिय है तुम्हें वेश उनका,
वे हैं और देश उनका ॥

तुम भी बन जाओ वैसे,
अथवा पहले थे जैसे।
सम्मुख हैं दृष्टान्त खड़े,
फिर भी तुम किसलिए पड़े ॥

दिनमणि पन्था दिखा रहा,
अवसर सन्ध्या दिखा रहा।
देखो, और स्वयं दीखो,
जो सिखलाया था सीखो ॥

आप आत्म-उद्धरण करो,
कुछ न बने, अनुकरण करो।
पर अन्धों की भाँति नहीं,
तुम भेड़ों की पाँति नहीं ॥

पुरुषोत्तम के अंशज हो,
उन ऋषियों के वंशज हो—
प्रकट हुई जिनके द्वारा,
विश्व-धर्म्म की ध्रुव-धारा ॥

यहीं तुम्हारी व्याप्ति नहीं,
तनु के साथ समाप्ति नहीं।
तुम्हें वहाँ भी जाना है,
हुआ जहाँ से आना है ॥

उनको इसका ध्यान नहीं,
जो कुछ है विज्ञान यहीं।
यही जगत उनका घर है,
किन्तु तुम्हारा पथ भर है ॥

रम्य रहे इसकी रचना,
पर विलासिता से बचना।
पश्चिम जिसमें डूब रहा,
और यहाँ तक ऊब रहा ॥

वहाँ बनावट की रट है,
देखो जहाँ, दिखावट है।
अपने भी सब पर-से हैं,
घर भी वे बाहर-से हैं ॥

केवल बाह्य साज सज्जा,
रख रखती है यदि लज्जा।
तो है उसे प्रणाम वहीं,
हमको उससे काम नहीं ॥

क्षुब्धोन्द्रिययोपासनाएँ,
नित्य नवीन वासनाएँ।
करें बड़प्पन सिद्ध जहाँ,
आत्म-तृप्ति फिर वहाँ कहाँ?
यहाँ न वह उन्नति जागे,
जो कि बड़ों के भी आगे,
नत होते संकुचित करे,
आत्म-पतन के लिए डरे ॥
वहाँ प्राप्त करने को मन,
मन के साथ चाहिए धन।
इसीलिए मन टूट रहा,
जीवन को धन लूट रहा ॥
आत्मा बना वहाँ मन ही,
सुख का साधन है धन ही।
तनु पर जीवन-ममता है,
क्षमता के हित समता है ॥
पश्चिम खाता पीता है,
इसीलिए वह जीता है।
इष्ट हमें है वह जीना—
मरने से न जांय छीना ॥
वह संयोग मात्र पाकर,
प्रकटित हुआ यहाँ आकर।
पर तुम आप न आये हो,
कुछ सन्देसा लाये हो ॥
तुमको उसे सुनाना है,
सबको यह बतलाना है—
"हुए नहीं तुम मरने को,
आये हो कुछ करने को ॥"
पश्चिम पथ में भूला है,
मिथ्या मद में फूला है।
देह अभी तक क्लान्त नहीं,
पर उसका मन शान्त नहीं ॥

'मैं' के साथ वहाँ 'तू' है,
'मैं' में भरी यहाँ 'भू' है।
'नेपोलियन' वहाँ होते,
तुम में 'बुद्ध' बोध बोते ॥
भय पर उसकी सत्ता है,
शस्त्रों से सुमहत्ता है।
किन्तु तुम्हारी विश्व-विजय,
रही प्रेम की प्रभुता मय ॥
अधिकृत करके हृदयासन,
तुमने किया लोक-शासन।
लिये कमण्डलु ही कर में,
पूजित हुए विश्व भर में ॥
इस अशान्ति का काम न था;
कहीं क्रान्ति का नाम न था।
आत्म-बुद्धि सबके हित थी;
शान्ति स्वयं समुपस्थित थी ॥
तुम कितने बड़भागी थे,
नृप होकर भी त्यागी थे।
फिर भी आत्म-परीक्षा दो,
नृप बनकर गुरु-दीक्षा दो।
उनका सा दृढ़ पक्ष रहे,
पर अपना ही लक्ष रहे।
उनका ऐसा ढंग बढ़े,
पर अपना ही रंग चढ़े ॥
उनकी सी साधना रहे,
अपनी आराधना रहे।
उनका अथक परिश्रम हो,
पर उसमें अपना क्रम हो ॥
उनकी ऐसी कृति रक्खो,
अपनी किन्तु प्रकृति रक्खो।
उनका सा आवेश रहे,
पर अपना उद्देश रहे ॥

उनका प्रेय, श्रेय अपना,
उनका ज्ञेय, ध्येय अपना।
उनकी गति, पद्धति अपनी,
उनकी उन्नति, मति अपनी ॥

उनकी प्रस्तावना पगे,
पर अपनी भावना जगे।
उनका सा उद्योग करो
किन्तु भोग में योग भरो ॥

आदान-प्रदान यह हो,
त्याग पूर्ण शुभ संग्रह हो।
उनका गृह-विद्रोह मिटे,
और तुम्हारा मोह मिटे ॥

हृदय और मस्तिष्क खिलें,
ज्ञान और विज्ञान मिलें।
लोक और परलोक लसें,
दोनों घर बेरोक बसें ॥

बैठो वीर मनोरथ में,
विचरो सदा प्रेम-पथ में।
तुम प्रकाश-से खिल जाओ,
अखिल विश्व में मिल जाओ ॥

ऊँची पुनः पताका हो,
सत्य धर्म्म का साका हो।
भूतल की सब भ्रान्ति मिटे,
और तुम्हारी श्रान्ति मिटे ॥

जीवन के सब फल चक्खो,
इसका किन्तु ध्यान रक्खो—
आये जगत जुड़ाने तुम,
उसके बन्ध छुड़ाने तुम ॥

भारत माता के बच्चे,
विश्व-बन्धु तुम हो सच्चे।
फिर तुमको किसका भय है,
उद्यत हो जय ही जय जय है ॥

किसान

भारतीय मेरे बान्धव हैं, घर है मेरा सारा देश;
बस यह मेरा आत्मचरित ही है मेरा अन्तिम सन्देश।

समर्पण

होते हैं सैकड़ों निछावर एक 'वोट' पर जिसके,
फहराते विश्वास-केतु हैं मान-कोट पर जिसके।
राजा और प्रजा दोनों का जिसका मुख दर्पण है,
उसी 'आनरेबुल' पदवी को यह 'किसान' अर्पण है ॥

श्रीगणेशाय नमः

किसान

प्रार्थना

यद्यपि हम हैं सिद्ध न सुकृती, व्रती न योगी,
पंर किस अघ से हुए हाय! ऐसे दुख-भोगी?
क्यों हैं हम यों विवश, अकिंचन, दुर्बल, रोगी?
दयाधाम हे राम! दया क्या इधर न होगी? ॥1॥

देव! तुम्हारे सिवा आज हम किसे पुकारें?
तुम्हीं बता दो हमें कि कैसे धीरज धारें?
किस प्रकार अब और मरे मन को हम मारें?
अब तो रुकती नहीं आँसुओं की ये धारें! ॥2॥

ले ले कर अवतार असुर तुम ने हैं मारे,
निष्ठुर नर क्यों छोड़ दिये फिर बिना बिचारे?
उनके हाथों आज देख लो हाल हमारे,
हम क्या कोई नहीं दयामय! कहो, तुम्हारे? ॥3॥

पाया हमने प्रभो! कौन सा त्रास नहीं है?
क्या अब भी परिपूर्ण हमारा ह्रास नहीं है?
मिला हमें क्या यहीं नरक का वास नहीं है?
विष खाने के लिए टका भी पास नहीं है! ॥4॥

नहीं जानते, पूर्व समय क्या पाप किया है,
जिसका फल यह आज दैव ने हमें दिया है!
अब भी फटता नहीं वज्र का बना हिया है,
इसीलिए क्या हाय! जगत में जन्म लिया है! ॥5॥

हम पापी ही सही किन्तु तुम हमें उबारो,
दीनबन्धु हो, दया करो, अब और न मारो।
करके अपना कोप शान्त करुणा कर तारो,
अपने गुण से देव! हमारे दोष विसारो ॥6॥

हमें तुम्हीं ने कृषक-वंश में उपजाया है,
किसका वश है यहाँ, तुम्हारी ही माया है।
जो कुछ तुमने दिया वही हमने पाया है,
पर विभुवर! क्यों यही दान तुमको भाया है? ॥7॥

कृषक-वंश को छोड़ न था क्या और ठिकाना?
नरक-योग्य भी नाथ! न तुमने हमको माना!
पाते हैं पशु-पक्षि आदि भी चारा-दाना,
और अधिक क्या कहें, तुम्हारा है सब जाना ॥8॥

कृषि ही थी तो विभो! बैल ही हमको करते,
करके दिनभर काम शाम को चारा चरते।
कुत्ते भी हैं किसी भाँति दग्धोदर भरते,
करके अन्नोत्पन्न हमीं हैं भूखों मरते! ॥9॥

कृषि-निन्दक मर जाय अभी यदि हो वह जीता,
पर वह गौरव-समय कभी का है अब बीता।
कृषि से ही थी हुईं जगज्जननी श्रीसीता,
गाते अब भी मनुज यहाँ जिनकी गुण-गीता ॥10॥

एक समय था, कृषक आर्य्य थे समझे जाते—
भारत में थे हमी 'अन्नदाता' पद पाते।
जनक सदृश राजर्षि यहाँ हल रहे चलाते,
स्वयं रेवतीरमण हलायुध थे कहलाते ॥11॥

लीलामय श्रीकृष्ण जहाँ गोपाल हुए हैं,
समय फेर से वहीं और ही हाल हुए हैं।
हा! सुकाल भी आज दुरन्त दुकाल हुए हैं,
थे जो मालामाल अधम कंगाल हुए हैं! ॥12॥

जिस खेती से मनुज मात्र अब भी जीते हैं–
उसके कर्ता हमीं यहाँ आँसू पीते हैं!
भर कर सबके उदर आप रहते रीते हैं,
मरते हैं निरुपाय हाय! शुभ दिन बीते हैं ॥13॥

हम से ही सब सभ्य सभ्य बनकर रहते हैं,
तो भी हमको निपट नीच ही वे कहते हैं।
कृषिकर होकर हम न कौन-सा दुख सहते हैं?
निराधार मँझधार बीच कब से बहते हैं! ॥14॥

जिस कृषि से सब जगत आज भी हरा भरा है,
क्यों उससे इस भाँति हमारा हृदय डरा है?
कृषि ने होकर विवश कड़ा कर आज वरा है,
हम कृषकों के लिए रही बस शून्य धरा है! ॥15॥

कड़ी धूप में तीक्ष्ण ताप से तनु है जलता,
पानी बनकर नित्य हमारा रुधिर निकलता!
तदपि हमारे लिए यहाँ शुभ फल कब फलता?
रहता सदा अभाव, नहीं कुछ भी वश चलता ॥16॥

वर्षा का सब सलिल खुले सिर पर है झड़ता,
विकट शीत से अस्थिजाल तक आप अकड़ता।
है बैलों के साथ बैल भी बनना पड़ता,
जलता तो भी उदर, अहो! जीवन की जड़ता! ॥17॥

कृषक-वंश में जन्म यहाँ जो हम पाते हैं
तो खाने के नाम नित्य हा हा खाते हैं!
मरने के ही लिए यहाँ क्या हम आते हैं?
जीवन के सब दिवस दुःख में ही जाते हैं! ॥18॥

शिक्षा को हम और हमें शिक्षा रोती है,
पूरी बस वह घास खोदने में होती है!
कहाँ यहाँ विज्ञान, रसायन भी सोती है;
हुआ हमारे लिए एक दाना मोती है! ॥19॥

परदेशों की तरह नहीं कुछ कल का बल है,
वह तो अपने लिए मन्त्र, माया या छल है!
जो कुछ है बस वही पुराना हल-बक्खल है,
और सामने नष्टसार यह पृथ्वीतल है! ॥20॥

बहते हुए समीप नदी की निर्मल धारा–
खेत सूखते यहाँ, नहीं चलता कुछ चारा।
एक वर्ष भी वृष्टि बिना समुदाय हमारा–
भीख माँगता हुआ भटकता मारा मारा! ॥21॥

प्रभुवर! हम क्या कहें कि कैसे दिन भरते हैं?
अपराधी की भाँति सदा सबसे डरते हैं।
याद यहाँ पर हमें नहीं यम भी करते हैं,
फिजी आदि में अन्त समय जाकर मरते हैं! ॥22॥

बनता है दिन-रात हमारा रुधिर पसीना,
जाता है सर्वस्व सूद में फिर भी छीना।
हा हा खाना और सर्वदा आँसू पीना,
नहीं चाहिए नाथ! हमें अब ऐसा जीना! ॥23॥

देव! हमारी दशा तुम्हारी है सब जानी,
नहीं मानती किन्तु आज यह व्याकुल वाणी।
सुन लो, अपने दीन जनों की रामकहानी,
दया करोगे आप हुए यदि पानी पानी ॥24॥

तुम भी वाचक-वृन्द! तनिक सहृदय हो जाओ
अपने दुर्विध बन्धुजनों को यों न भुलाओ।
यही समय है कि जो कर सको कर दिखलाओ,
बन्धु नहीं तो मनुज जान कर ही अपनाओ ॥25॥

बाल्य और विवाह

जब कुछ होश सँभाला मैंने अपने को बन में पाया,
हरी भूमि पर कहीं धूप थी और कहीं गहरी छाया।
एक भैंस, दो गायें लेकर दिन भर उन्हें चराता था,
घर आ कर, ब्यालू में, माँ से एक पाव पय पाता था ॥1॥

सुख भी नहीं छिपाऊँगा मैं पाया है मैंने जितना,
कभी कभी घी भी मिलता था, यद्यपि वह था ही कितना।
माता-पिता छाँछ लेकर ही मधुर महेरी करते थे,
भैंस और गायों की रहँटी घी दे दे कर भरते थे ॥2॥

देख किसी का ठाठ न हमको ईर्ष्या कभी सताती थी,
और न अपनी दीन दशा पर लज्जा ही कुछ आती थी।
मानों उन्हें वही थोड़ा है और हमें है बहुत यही,
जो कुछ जो लिखवा लावेगा पावेगा वह सदा वही ॥3॥

जो हो, मैं निश्चिन्त भाव से था मन में सुख ही पाता,
किसी तरह खेती-पाती से था संसार चला जाता।
मुक्त पवन मेरे अंगों का बन में स्वेद सुखाती थी,
घनी घनी छाया पेड़ों की गोदी में बिठलाती थी ॥4॥

मुझसे ही मेरे साथी थे, सब मिल कर खेला करते,
हरी घास पर कभी लेटते, कभी दण्ड पेला करते।
मन निर्मल था, तन पर जो कुछ आ पड़ता झेला करते,
गुंजारित करते कानन को जब कि हर्ष-हेला करते ॥5॥

ऊपर नील वितान तना था, नीचे था मैदान हरा;
शून्य-मार्ग से विमल वायु का आना था उल्लास भरा।
कभी दौड़ने लग जाते हम रह जाते फिर मुग्ध खड़े,
उड़ने की इच्छा होती थी उड़ते देख विहंग बड़े! ॥6॥

बन्दर सम पेड़ों पर चढ़ते, डालें कभी हिलाते थे;
पके पके फल तोड़ परस्पर खाते और खिलाते थे।
शब्द-विशेषों से पशुओं को चलते समय बुलाते थे,
कान उठाकर, घर चलने को वे भी दौड़े आते थे ॥7॥

पत्तों पर मोती-से हिमकण प्रातःकाल चमकते थे,
सन्ध्या को ऊपर तारागण कैसे दिव्य दमकते थे।
आते-जाते समय हमारा मानस-हंस मोद पाता,
देख भरा भाण्डार प्रकृति का ग्लानि और श्रम मिट जाता ॥8॥

झुके एरोद पकड़ने को हम कभी पहाड़ों पर चढ़ते,
कभी तैरते हुए होड़ से पानी में आगे बढ़ते।
मानों स्वयं प्रकृति ही फिरती हमें गोद में लिये हुए,
खगता, मृगता और मनुजता तीनों के गुण दिये हुए ॥9॥

मोर नाचते थे उमंग से, मेघ मृदंग बजाते थे,
कोयल के सहयोगी हो कर चंचल चातक गाते थे।
रस बरसाती हुई घटा भी नीचे उतरी आती थी,
प्रकृति-नटी निजपट पल पल में प्रकट पलटती जाती थी ॥10॥

हा! पूर्वस्मृति, तू अब तक भी किस आशा से बची रही?
क्यों आगे आ गयी अचानक जबकि शून्य हो चुकी मही!
लौटा दो, लौटा दो कोई मेरा बीता समय वही,
मैं न मरूँ पाऊँ यदि उसको, है जीवन का यत्न यही ॥11॥

पर भाई! वह समय कहाँ अब, चला गया सो चला गया;
वर्तमान से विगत हमारा एक बार ही छला गया!
अब किस को पाकर जीने की इच्छा मुझको होती है?
फिर क्यों पूर्वस्मृति! तू मन की मरण-शान्ति भी खोती है? ॥12॥

सघन करोंदी का निकुंज था, छाया फैली थी गहरी;
मन का राजा बना हुआ मैं बिता रहा था दोपहरी।
भैंस हाँकने का डण्डा था मानों राजदण्ड मेरा,
बैठे थे पशु भी छाया में किये हुए अपना डेरा ॥13॥

नहीं जानता, किस चिन्ता में उलझ रहा था मेरा मन,
शायद यही सोचता था मैं—क्यों मरते-जीते हैं जन।
पीतल क्यों पीतल ही रहता, सोना क्यों बनता है धन,
अच्छा, धन ही क्या है, जिसने डाली है इतनी उलझन ॥14॥

धन मन का माना ही धन है, पीतल भी तो पीला है,
धन तो खाया नहीं न जाता, जग की कैसी लीला है!
धन जो हो, परन्तु क्यों उस पर मानव ऐसे मरते हैं?
क्यों वे उसके लिए निरन्तर पुण्य-पाप सब करते हैं? ॥15॥

धन को धनता मिली हमीं से और हमीं उस पर फूले,
अपने से भी बढ़ कर उसकी चिन्ता में पड़ कर भूले।
अपने ऊपर आप चढ़ाया हमने क्या पागलपन है,
तब तो पशु-पक्षी ही अच्छे, जिन्हें न धन का बन्धन है ॥16॥

जन से धन बढ़ गया कि जिससे जन ही जन को मार रहा
महाजनों को हम लोगों का है कब कष्ट-विचार अहा!
प्रभुवर! धन के लिए किसी का मैं न कभी अपकार करूँ,
धन ही मिले मुझे तो उससे जनता का उपकार करूँ ॥17॥

पाठक खिन्न न हों कि दीन यह पागल-सा क्या बकता है,
नहीं गँवार किसान तत्त्व का अनुशीलन कर सकता है।
इस अनपढ़ जड़ जन के ऊपर समुचित इससे रोष नहीं,
आप खिन्न हों, किन्तु दास का इसमें कुछ भी दोष नहीं ॥18॥

जो हो, सोच रहा था मन में मैं यों कितनी ही बातें,
वे कैसी ही हों, पर उनमें थीं न दूसरों पर घातें।
बड़ी देर हो गयी सोचते, पर न समझ में कुछ आया,
आखिर अपनी वंशी लेकर मैंने एक गीत गाया—॥19॥

"अरी जसोदा! तेरे सुत ने सबको आज सनाथ किया,
कूद अथाह अगम जमना में काली को है नाथ लिया"
जब तक पूरा करूँ गीत मैं—एक विकट चीत्कार नया—
मानों मेरे कान फोड़ कर, तान तोड़ कर गूँज गया! ॥20॥

चौंक उठा मैं और शीघ्र ही डण्डा ले बाहर आया,
भीत भाव से सब पशुओं को इधर उधर भगते पाया।
सन सन पवन शून्य में चलती, धरा धूप से जलती थी,
किन्तु प्रकृति के रोम रोम से ध्वनि बस वही निकलती थी ॥21॥

चारों ओर वहाँ पर मैंने तीक्ष्ण दृष्टि जो दौड़ाई—
नदी किनारे एक बालिका केवल चिल्लाती पाई।
उसके पशु भी भाग रहे थे पानी पीना छोड़ अहा!
देखा और कि एक तेंदुआ उसी ओर है लपक रहा! ॥22॥

सर्वनाश! भय से लड़की ने आँखों को था मींच लिया,
दौड़ा मैं, या उसी दृश्य ने मुझे आप ही खींच लिया।
पल भर में सब हुआ—उधर तो वह उस लड़की पर टूटा,
और इधर उसके माथे पर मेरा एक हाथ छूटा ॥23॥

छड़ी न थी बाबू लोगों की, मेरा मोटा डण्डा था;
और उन्हीं के श्रीशब्दों में मैं भी कुछ मुस्तण्डा था।
पोले का लोहा हिंसक के दृढ़ मस्तक में पैठ गया,
रही छलाँग अधूरी, तत्क्षण वह नीचे ही बैठ गया! ॥24॥

करके फिर हुंकार मचा दी मारामार वहाँ मैंने,
सुध न मुझे भी रही कि कितने किये प्रहार कहाँ मैंने।
लगे एक दो घाव मुझे भी किन्तु तेंदुआ मार लिया,
तो भी बड़ी देर तक मेरा धक धक करता रहा हिया! ॥25॥

उसी समय मेरे कुछ साथी, सोते थे जो जहाँ तहाँ,
अपने अपने अस्त्र उठाकर आ पहुँचे सोत्साह वहाँ।
सुनकर 'अस्त्र' शब्द पाठकगण! आप न कुछ अचरज मानें,
हँसिया, खुरपी और कुल्हाड़ी इनको ही सब कुछ जानें ॥26॥

चले मारने वे भी उसको कह कर केवल अहो! अहो!
वाक्यस्फूर्ति हुई तब मेरी अब तो वह मर चुका, रहो।
काँप रही थी भीत बालिका, धीरज उसे दिया मैंने,
अब डर नहीं, कौन हो तुम? यों उससे प्रश्न किया मैंने ॥27॥

बोल न सकी किन्तु कुछ भी वह भोले भाले मुखवाली,
केवल मेरे ऊपर उसने एक अपूर्व दृष्टि डाली।
पाया प्रत्युपकार हृदय ने, देखा मैंने उसे जहाँ,
मेरे लिए विषाद भाव भी था कृतज्ञता सहित वहाँ ॥28॥

वहीं पास के एक गाँव में उस कुलवन्ती का घर था,
पर किस तरह अकेली जाती? छूटा नहीं अभी डर था।
उसे साथ जाकर तब मेरे दो साथी पहुँचा आये,
धोकर घाव नदी में मैंने मन में हरि के गुण गाये ॥29॥

फैल गयी झट इस घटना की चर्चा गाँवों गाँवों में,
पड़ने लगीं दृष्टियाँ सब की मेरे गहरे घावों में।
हुए प्रसन्न पिता भी मन में, मिला सुयश यों अनचीता,
माँ ने कहा कि मेरा कलुआ कोरा दूध नहीं पीता! ॥30॥

दो दिन पीछे समाचार यह सुना गया सन्देह-रहित—
कुलवन्ती मुझको ब्याहेगा उसका पिता मान कर हित।
माँ को हर्ष और मुझ को कुछ लज्जामय संकोच हुआ,
किन्तु विवाह कहाँ से होगा, सौम्य पिता को सोच हुआ ॥31॥

पहला ही ऋण नहीं चुका है, रहँटी, बीज, खवाई का;
कैसे चुके, लगा है झगड़ा सबके साथ सवाई का!
खेती में क्या सार रहा अब, कर देकर जो बचता है,
कड़े व्याज के बड़े पेट में सभी पलों में पचता है! ॥32॥

दुखी किन्तु निष्पाप पिता को इस अदृष्ट पर क्रोध हुआ,
फिर भी वह सम्बन्ध न करना उनको अनुचित बोध हुआ।
भैंस और गायों का देना उन्हें बेचकर चुका दिया,
जो बाकी बच रहा उन्होंने उससे मेरा ब्याह किया ॥33॥

बस, ये बातें रहें यहीं तक, मैंने कुलवन्ती पायी,
दैन्यावस्था में भी मुझको हुआ समय वह सुखदायी।
हाय! स्वप्न भी उन बातों का हो सकता अब प्राप्त नहीं,
तो आगे बढ़ने के पहले क्यों न ठहर लूँ तनिक यहीं ॥34॥

गार्हस्थ्य

मेरे लिए सुहाग रात का कैसा हुआ प्रभात?
पड़ी कान में दो पथिकों के लुट जाने की बात।
कहाँ? नदी पर, जहाँ तेंदुआ मारा था उस रोज,
चलो, पुलिस की चिन्ता छूटी, करनी पड़ी न खोज! ॥1॥

"नई वधू के लिए दीन जब पा न सका उपहार—
तब क्या करता, लूट-मार का करना पड़ा विचार।
पर कुछ बिगड़ा नहीं अभी तक कर ले यदि स्वीकार,"
प्राज्ञ पुलिस का यही तर्क था, कौन करे प्रतिकार! ॥2॥

कहा पिता ने—"वह लड़का है, यह कैसा अन्धेर?"
किन्तु वहाँ इसके उत्तर में लगती थी क्या देर।
"ऐसा लड़का है कि अकेले की दो दो पर घात,
लड़े तेंदुओं से जो उसको है यह कितनी बात?" ॥3॥

"अच्छा, यही सही, तो उसका कर दो तुम चालान,
डर क्या है, सच और झूठ का साक्षी है भगवान।"
यह सुनकर भी जमादार ने किया न कुछ भी रोष,
बोला वह कि "मान लो, कल्लू छूट गया निर्दोष—" ॥4॥

"पर कितनी बदनामी होगी जब होगा चालान,
जान बूझ कर भी क्यों ऐसे बनते हो अनजान?
सोचो, कौन दरोगा जी का पकड़ सकेगा हाथ,
झूठे झगड़े में भी उनका कौन न देगा साथ? ॥5॥

"आते हैं मौके पर अब वे करने तहकीकात,
वहाँ बुलाते ही कल्लू को बिगड़ जायगी बात।
अब तक कोई नहीं जानता, आया हूँ मैं आप,
मान रहे तो जान—सोच लो, तुम हो उसके बाप" ॥6॥

"तो क्या करूँ?" पिता ने पूछा उग्र भाव को त्याग,
तब शुभचिन्तक जमादार ने दिखलाया अनुराग।
था सारांश—एक गिन्नी से चल सकता है काम,
पर गिन्नी कैसी होती है, सुना आज ही नाम ॥7॥

बहुत नहीं, बस पन्द्रह रुपये रख सकते हैं लाज,
पर क्या पन्द्रह पैसे भी हैं मेरे घर में आज।
हे कमलेश! बचा लो मेरी लज्जा अब की बार,
दिलवा दो उधार ही मुझ को तुम पन्द्रह कलदार ॥8॥

आना रुपया व्याज लिखा कर करके अति उपकार,
सदय साह ने इस विपत्ति से हमको लिया उबार!
मुझे घूस देना खटका, पर देख पिता का रोष—
कह न सका कुछ, सहम गया मैं, था मेरा ही दोष! ॥9॥

आयी जमींदार की बारी जमादार के बाद,
हुक्म हुआ—"इस साल खेत में तुम न डालना खाद।
उसी जगह के मिलते हैं अब पन्द्रह के पच्चीस,
तुम्हीं जोतना चाहो तो फिर देने होंगे तीस!" ॥10॥

दीख पड़ा सब ओर पिता को अन्धकार इस बार
ज्ञात हुआ केवल प्रकाश मय पटवारी का द्वार!
किन्तु बड़ों के सम्मुख कैसे जावें रीते हाथ?
दोनों पैरों पर रखने को जोड़ी तो हो साथ! ॥11॥

यह भी किया और पटवारी आये दया विचार,
जमींदार से कहा उन्होंने करके शिष्टाचार—
"देता है पच्चीस दूसरा फिर इससे क्यों तीस?
यह समझा-बूझा है, इसके अच्छे हैं चौबीस ॥" ॥12॥

तय पाये पच्चीस अन्त में, देने पड़े न तीस;
दो पटवारी-पूजन के थे, यों सब सत्ताईस।
तीन बचे, पर बारह टूटे, तो भी हुए सनाथ;
लिखी "कबूलत," हुई निशानी, कटवा बैठे हाथ ॥13॥

जमींदार ने कहा कि "सुन लो, कहते हैं हम साफ–
अबकी बार फसल फिर बिगड़े या लगान हो माफ।
पर हम जिम्मेदार नहीं हैं, छोड़ेंगे न छदाम,
जो तुमको मंजूर न हो तो देखो अपना काम ॥" ॥14॥

कहा पिता ने–"क्यों कहते हैं ऐसी बात हुजूर,
प्रभु क्या अब भी सदय न होंगे, है मुझको मंजूर"
मैं भी था, मन ही मन मैंने लिया राम का नाम,
और कहा–मंजूर न हो तो देखो अपना काम! ॥15॥

हुक्म हुआ फिर–"मगर कबूलत होगी फिर बेकार,"
इन्दुलतलब नाम का रुक्का लिखा गया लाचार।
फिर भी वह "बेकार कबूलत" रही उन्हीं के पास,
उतने में उतने ही मिलकर पूरे हुए पचास! ॥16॥

"अविश्वास क्यों, बड़े लोग क्या होंगे बेईमान?"
मैंने कहा कि–"वे क्यों, हम हैं, साक्षी है भगवान।"
पर यह मेरी 'गुस्ताखी' थी, मिली डाँट भरपूर,
कुशल यही थी कि मैं पिता से बैठा था कुछ दूर ॥17॥

और सुनाऊँ? अभी बहुत कुछ कहना है अवशिष्ट,
एक ओर से कभी किसी का होता नहीं अनिष्ट।
क्या बोवें, क्या खाकर जोतें, पाकर पट्टा मात्र?
घर में प्लेग वाहनों के घर हैं मिट्टी के पात्र! ॥18॥

चलो, महाजन के सम्मुख अब जाकर जोड़ें हाथ,
बीज, खवाई वहीं मिलेगी, होंगे वहीं सनाथ।
"पहले पहला खाता देखो, दिये गये थे बीस,
होकर वे दो वार सवाए हुए सवा इकतीस!" ॥19॥

कितने दिन में? दो फसलों में, बीत चला है साल,
फसलें हैं कि फाँसियाँ हैं ये, साल है कि है काल!
जैसा समझो रहो मिलाते अपने मन में मेल,
किन्तु बोलना नहीं, नहीं तो बिगड़ जायगा खेल ॥20॥

होंगे फिर आना ऊपर ये बढ़कर उनतालीस,
तो चौबीस और दे दीजे होंगे यह भी तीस।
अभी जेठ है, अगहन भर में होंगे सभी वसूल,
सब पन्द्रह आने कम सत्तर! जाना कहीं न भूल ॥21॥

क्या पन्द्रह आने कम सत्तर, नहीं मिलेगी छूट?
आने तो मैं दे न सकूँगा, व्याज है कि है लूट!
देख विचार-विहीन पिता का ऐसा भोला भाव,
हँसा महाजन भी फिर उसने मान लिया प्रस्ताव! ॥22॥

तीन बार होकर सनाथ यों लौटे श्रान्त शरीर,
तीनों वार किसी विध माँ ने रोका लोचन-नीर।
स्वार्थ पूर्ण संसार! सजग हो, हुआ बहुत अविचार,
प्रलय करेगा निर्दोषों का अश्रु-सिन्धु इस बार! ॥23॥

ढोर बिक चुके थे पहले ही बाकी थे दो बैल,
मैं था, वे थे और नित्य थी हार-खेत की गैल।
सघन करोंदी के निकुंज का वहीं रहा विश्राम,
खेल-कूद के साथी छूटे, पड़ा राम से काम ॥24॥

सूर्य्य निरन्तर बरसाता था सिर पर तीखे नीर,
घायल-सा हो लगा चाहने मैं पल पल में नीर।
सूरत बदल गयी दो दिन में जर्जर हुआ शरीर,
पर उस जीवन-समर-भूमि में बना रहा मैं धीर ॥25॥

हुए प्रसन्न पिता भी मुझ पर रोष-भाव को छोड़,
करने लगे परिश्रम मिल कर हम दोनों जी तोड़।
जोत जात कर बीज योग्य जब खेत किये तैयार,
तब वर्षा के लिए इन्द्र की होने लगी पुकार ॥26॥

पानी के बदले ऊपर से बरस रही थी आग,
आँधी बन कर खेल रही थी हवा धूल की फाग।
शान्त रही न महामारी भी पा कर योग उमंग,
लगीं धधकने मृतक-होलियाँ, हुआ रंग में भंग ॥27॥

भाग बचे थे प्लेग-वेग से, अब है कौन उपाय?
चारों ओर आग की ज्वाला फैल रही है हाय!
अर्द्ध रात्रि थी, सोता था मैं, खुली अचानक आँख,
अन्धेरे में सुना कि जननी रही कष्ट से काँख ॥28॥

माँ कह कर मैं उठा और झट पहुँचा उसके पास,
मुझे देख कर उसने केवल लिया एक निश्वास।
काली छाया डाल चुका था मुँह के ऊपर काल,
पुत्र देख सकता है कैसे जननी का यह हाल ॥29॥

पर, वश क्या था, रोने का भी समय न था इस बार,
करने लगे शीघ्र ही हम सब किसी भाँति उपचार।
कुछ न हुआ, आते ही आते ऊषा का आलोक–
अन्धकार छा गया गेह में, दीख पड़ा बस शोक ॥30॥

मैं अचेत सा था, लोगों ने करवाया संस्कार,
आते ही आते श्मशान से पिता हुए बीमार।
निर्दय दैव! सँभल जाने दे, न कर घात पर घात,
एक साथ कह भी न सकूँगा मैं तेरी वह बात ॥31॥

सर्वस्वान्त

कुलवन्ती! क्या करूँ? पिता भी चल दिये!
हम दोनों रह गये यातना के लिए।
छोड़ हमें प्रतिबिम्ब सदृश अपना यहाँ,
वे दोनों किस लिए जा छिपे हैं कहाँ? ॥1॥

सहृदय पाठक! सुना सुना कर निज कथा—
तुमको देना नहीं चाहता मैं व्यथा।
बस तुम रोको मुझे न रोने से अहो!
करके इतनी कृपा सदा सुख से रहो ॥2॥

हा! मैं रोऊँ जो न आज तो क्या करूँ?
इस ज्वाला में धैर्य्य और कैसे धरूँ?
दो बूँदें भी दग्ध हृदय को दूँ न मैं?
मानव ही हूँ, शिला-खण्ड तो हूँ न मैं! ॥3॥

रोऊँ किसके निकट? उन्हीं भगवान के—
दाता जो सुख और दुःख के दान के।
क्या इससे भी हानि किसी की है कहीं?
यदि है तो वह मनुज नहीं, पशु भी नहीं ॥4॥

प्रकृत कथा, पर कहाँ? प्रकृतपन खो गया,
अनहोनी का यहाँ आक्रमण हो गया!
दुख में सुख का योग सर्वदा को गया,
गया न परिकर सहित हाय! क्यों जो गया? ॥5॥

कुलवन्ती ने कहा—"भाग्य में था यही,
अनहोनी भी इसी लिए होकर रही।
जाते हम भी वहीं गये हैं वे जहाँ,
कौन हमारे कर्म्म भोगता फिर यहाँ? ॥6॥

हमको उनके बिना भले ही गति न हो,
पर जीने में उन्हें कौन सुख था अहो!
सौख्य न भी हो, मिटे मरण से कष्ट ही,
तो यों उनका कष्ट हुआ है नष्ट ही ॥7॥

'कुछ दिन से क्यों भूख हमारी मर रही'?
खाते थे अधपेट सदा कह कर यही।
यह मिस था इस लिए कि हम अफरे रहें,
ईश्वर! ऐसे कष्ट न वैरी भी सहें ॥" ॥8॥

हाय! हमारे लिए पिता भूखों मरे,
इसी लिए उत्पन्न हुआ था मैं हरे!
जननी! जननी! स्नेहमयी जननी! हहा।
इसीलिए था प्रसव-कष्ट तू ने सहा? ॥9॥

सब होना चाहते पुत्र से हैं सुखी,
पर तुम उलटे हुए हाय! मुझ से दुखी!
और दुखी ऐसे कि विवश मरना पड़ा,
सह सकता था कष्ट कौन ऐसा कड़ा! ॥10॥

जाओ, तब हे जननि! जनक! जाओ वहाँ—
शान्त हो सके घोर जगज्ज्वाला जहाँ।
सबकी सबके साथ जहाँ ममता रहे,
कभी विषमता न हो, सदा समता रहे ॥11॥

कुलवन्ती ने कहा कि—"अब धीरज धरो,
जिसमें यह संसार चले ऐसा करो।
और किसे अब यहाँ हमारा ध्यान है?
ऊपर नीचे वही एक भगवान है ॥12॥

हुआ सामना आज सही, मँझधार का,
पता नहीं है किसी ओर भी पार का।
फिर भी आओ, बने जहाँ तक हम तरें,
प्रभु चाहें तो पार हमें अब भी करें ॥13॥

मन को रोको, शोक सहन होगा तभी,
उद्यत हो, यह भार वहन होगा तभी।
अपनी चिन्ता नहीं, मिला जो था दिया,
पर क्या देंगे उन्हें कि जिन से है लिया?" ॥14॥

हैं बस मेरे प्राण, जिसे अब चाह हो,
जमींदार ही हो कि महाजन साह हो।
यों कह कर मैं मौन हो गया आप ही,
वह भी बोली नहीं, रही चुप चाप ही ॥15॥

किन्तु उसी का कथन सर्वथा ठीक था,
मेरा यह आक्षेप नितान्त अलीक था।
कुछ भी हो, संसार आप चलता नहीं,
मर जाओ, पर प्रकृति-नियम टलता नहीं ॥16॥

जलता है यदि हृदय तुम्हारा तो जले,
खलता है यदि खान-पान भी तो खले।
करना होगा काम छटपटाते हुए,
डूबो भी तो हाथ फटफटाते हुए! ॥17॥

लेकर गाड़ी-बैल खेत पर मैं गया,
हुआ हृदय का शोक वहाँ से फिर नया।
कण कण में था पिता-स्मरण ही उग रहा,
उसे सींचता हुआ नेत्र-जल फिर बहा! ॥18॥

लगा लोटने शून्य देख सब ओर मैं
सहकर भी यों शोक मरा न कठोर मैं।
मरता कैसे, अभी और भी भोग था,
मृत्यु दूर थी और मानसिक रोग था! ॥19॥

पानी था कुछ बरस गया इस बीच में,
पर वह हमको और फँसाने कीच में।
घर में था जो अन्न उसे भी खो दिया,
गया बीज वह व्यर्थ कि जो था बो दिया! ॥20॥

एक बार ही बरस पयोद चले गये
विधि से भी हम दीन किसान छले गये!
वर्षा में ही हुआ शरद का वास था,
करता मानों धवल चन्द्र उपहास था! ॥21॥

आशांकुर भी गये काल-पशु से चरे,
पीले पड़ने लगे खेत जो थे हरे।
दृग न सूखना देख सके, बरसे सही,
किन्तु धरा की गोद रीत कर ही रही! ॥22॥

जहाँ कुएँ थे वहाँ परोहे भी चले,
पर सौ में दो चार खेत फूले-फले।
मैं क्या करता? प्राण छटपटाने लगे,
नहरों वाले गाँव याद आने लगे! ॥23॥

यह दुकाल था, देश हुआ उत्सन्न-सा,
भुस-चारा भी चढ़ा तुला पर अन्न-सा!
ऋण-दाता भी और न धीरज धर सके,
बहुत दया की थी, न और फिर कर सके! ॥24॥

साह, महाजन, जमींदार तीनों ठने,
वात, पित्त, कफ सन्निपात जैसे बने!
पन्द्रह दूनी तीस साह ने भी किये,
मौके पर थे दिये पुलिस-प्रभु के लिए! ॥25॥

सन्ध्या थी उस समय तामसिक याम था,
आया "कुड़क अमीन," मुझी से काम था।
बस, मेरापन आत्म-भाव खोने लगा,
जो कुछ था वह सभी कुर्क होने लगा! ॥26॥

अविकृत-सा मैं बना घोर गम्भीर था,
मन जड़-सा था और अकम्प शरीर था।
सभी ओर से बद्ध हुआ-सा मैं रहा,
मानो शोणित भी न नाड़ियों में बहा! ॥27॥

कुलवन्ती से कहा गया—"गहने कहाँ"?
थी चाँदी की एक मात्र हँसली वहाँ।
जब तक उसे अमीन छीनने को कहे—
उसने आप उतार दिया, ऋण क्यों रहे ॥28॥

हुआ काम भी और रहा कानून भी,
नजराने में क्या न जमेगी दून भी!
दल-बल-सहित अमीन गया सानन्द ही,
मैं कुलवन्ती-सहित रहा निस्पन्द ही ॥29॥

आँगन में यम-मूर्ति यामिनी आ गयी,
घर के भीतर अटल अँधेरी छा गयी।
लाख लाख नक्षत्र-नयन नभ खोल कर—
हमें देखने लगा न कुछ भी बोल कर ॥30॥

देख, दैव! तू देख, हमारे नाश को,
देखा मैंने एक बार आकाश को।
तत्क्षण मुँह पर दिया थपेड़ा वायु ने,
साथ न छोड़ा किन्तु अभागी आयु ने! ॥31॥

कुलवन्ती भी उठी निकट आयी तथा,
बोली—"अब" बस, कह न सकी फिर कुछ कथा।
लिपट गयी वह फूट फूट कर रो उठी,
मैं भी रोया, विषम वेदना हो उठी ॥32॥

ऐसे निर्दय भाव भरे हैं वित्त में!
एक वार ही लगी आग-सी चित्त में।
बोला मैं—अब हैं स्वतन्त्र दोनों जने—
मैं शिव हूँ, तू शक्ति, देश मरघट बने ॥33॥

नहीं, नहीं, शिव नहीं, बनूँगा रुद्र मैं,
जानेंगे सब लोग—नहीं हूँ क्षुद्र मैं।
पुलिस मुझे थी व्यर्थ लुटेरा कह रही,
देखे अब वह शीघ्र कि हाँ, मैं हूँ वही ॥34॥

आप लुटेरे, और बनाते हैं हमें,
लुटवाते हैं आप, सताते हैं हमें।
करते हैं बदनाम सभ्य सरकार को,
करती है जो दूर सदा अविचार को ॥35॥

जमादार वह कहाँ? आज पकड़े मुझे,
आवे, आकर यहाँ आज जकड़े मुझे।
जिन पन्द्रह के तीस मुझे देने पड़े—
खटकेंगे आ-मरण कलेजे में अड़े ॥36॥

यदि मैं डाकू बनूँ, मुझे क्या दोष है?
दोषी है तो पुलिस, उसी पर रोष है।
जमींदार भी कु-फल किये का पायगा,
झूठे रुक्के फिर न कभी लिखवायगा ॥37॥

और महाजन? कर्ज लिया उससे सही,
किन्तु व्याज की लूट नहीं जाती सही।
मुझ से मेरे बन्धु न लुटने पायँगे,
वही लुटेंगे जो कि लूटने जायँगे ॥38॥

मैं क्या क्या कह गया न जाने, रोष से,
गूँज उठा घर घोर घटा-से घोष से।
मन में आया, आग लगा दूँ मैं अभी,
इसी गेह से भभक उठे भारत सभी! ॥39॥

कुलवन्ती डर गयी, कष्ट पाती हुई—
बोली कातर गिरा गिड़गिड़ाती हुई—
"हाहा खाती हूँ, न हाय! तुम यों कहो,
शान्त रहो, दुर्भाग्य जान कर सब सहो ॥40॥

न लो लूट का नाम, पाप है पाप ही,
फल पावेंगे सभी किये का आप ही।
छोड़ो बुरे विचार पाप-प्रतिकार के,
न्यायालय हैं खुले हुए सरकार के ॥41॥

कोई हो, जब दोष सिद्ध हो जायगा,
दण्ड पायगा, कभी न बचने पायगा।
प्रभु के घर भी न्याय और सु-विचार है,
भला, दण्ड का हमें कौन अधिकार है? ॥42॥

पर न रहो अब यहाँ, ठौर भी है कहाँ;
चलो, चलें, ले जाय भाग्य अपना जहाँ।
सास-ससुर के फूल तीर्थ में छोड़ कर—
माँगूँगी मैं क्षमा वहाँ कर जोड़ कर ॥43॥

गंगा मैया दया करेगी अन्त में,
सारे दुख-सन्ताप हरेगी अन्त में।
भाग्य हमारे बुरे, किसी ने क्या किया?
हरि ने भी वनवास एक दिन था लिया! ॥44॥

आग लगे क्यों, और देश भी क्यों जले;
सुखी रहे वह और सदा फूले-फले।
भूमि बहुत है, कहीं ठौर पा जायँगे,
प्रभु देंगे तो कभी सु-दिन भी पायँगे ॥45॥

तुम मेरे सर्वस्व, मुझे मत छोड़ियो,
विचलित हो कर नियम न कोई तोड़ियो।''
यों कह कर वह मुझे पकड़ कर रह गयी,
गद्‌गद होती हुई जकड़ कर रह गयी! ॥46॥

कुलवन्ती! हे प्रिये! शान्त हो, शान्त हो,
चलो जहाँ पर मनुज न हों, एकान्त हो।
तू ही मेरी एक मात्र है सम्पदा,
दीप-शिखा-सी मार्ग दिखाती रह सदा ॥47॥

था मैं भी सावेग उसे पकड़े खड़ा,
इसी समय कुछ शब्द द्वार पर सुन पड़ा।
साँकल खटकी और सिपाही ने कहा—
बेगारी चाहिए, निकल, क्या कर रहा! ॥48॥

बेगारी? क्या नहीं आज भी मुक्ति है?
बचने की अब यहाँ कौन सी युक्ति है?
छूटे अब तो पिण्ड, देश हम छोड़ते,
सब से निज सम्बन्ध सदा को तोड़ते! ॥49॥

यम के रहते हुए हाय! ऐसी व्यथा?
पूरी हो क्या यहीं अधूरी यह कथा?
दयानिधे; क्या दया तुम्हारी चुक गयी?
और अधिक क्या कहूँ, गिरा भी रुक गयी! ॥50॥

देशत्याग

एक जन ने यों त्रिवेणी-तीर पर मुझ से कहा—
"तरस मुझको आ रहा है देख कर तुमको अहा!
तुम दुखी-से दीखते हो, क्या तुम्हें कुछ कष्ट है?
कठिन है निर्वाह भी, यह देश ऐसा नष्ट है! ॥1॥

"यह अवस्था और सूखे फूल-सा यह मुख हुआ,
जान पड़ता है, कभी तुम को नहीं कुछ सुख हुआ!
किन्तु अब चिन्ता नहीं, तुम पर हुई प्रभु की दया,
जान लो, बस, आज से ही दिन फिरे, दुख मिट गया! ॥2॥

"शीघ्र मैं साहब बहादुर से मिलाऊँगा तुम्हें,
नौकरी-पर मालिकी-सी मैं दिलाऊँगा तुम्हें।
वस्त्र-भोजन और पन्द्रह का महीना, धाम भी,
काम भी ऐसा कि जिसमें नाम भी, आराम भी ॥3॥

"सैर सागर की करोगे दृश्य देख नये नये,
जानते हो तुम पुरी को? द्वारिका भी हो गये?
यह बहू है? ठीक है बस, भाग्य ने अवसर दिया,
याद मुझको भी करोगे, था किसी ने हित किया"! ॥4॥

मैं चकित सा रह गया, यह मनुज है या देवता;
पर लगा पीछे मुझे उस "आरकाटी" का पता!
सावधान! स्वदेशवासी, हा! तुम्हारे देश में—
घूमते हैं दुष्ट दानव मानवों के वेश में! ॥5॥

सजग रहना, सत्य-वेशी झूठ है छलता यहाँ,
देव-वेशी दस्यु-दल की बढ़ रही खलता यहाँ।
प्रकृत पापी भी यहाँ पर साधु फिरते हैं बने,
देखना, सर्वत्र उन के जाल फैले हैं घने! ॥6॥

रात तक हमको फँसा कर वह "डिपो" में ले गया,
घेर कोई ढोर कांजीहौस में ज्यों दे गया!
और भी पशु-सम वहाँ कितने अभागे थे घिरे,
हाय! दलदल से निकलकर हम अनल में जा गिरे! ॥7॥

उस नरक के द्वार को ही देख कुलवन्ती डरी,
डूब कर ही क्या रहेगी अन्त में जीवन-त्तरी।
जानता था मैं कि मैंने दुःख भोग लिए सभी,
किन्तु दुःख अपार हैं, पूरे नहीं होते कभी! ॥8॥

हो चुके सर्वस्व खो कर दीन से भी दीन थे,
किन्तु फिर भी हम अभी तक सर्वथा स्वाधीन थे।
आज मुक्त समीर में वह साँस लेना भी चला,
हो गया संकीर्ण नभ, घुटने लगा मानों गला! ॥9॥

किन्तु क्या करते, विवश थे, हम वचन थे दे चुके,
आप ही थे आपदा का भार सिर पर ले चुके।
कौन फँसता है निकलने के लिए दृढ़ जाल में?
दैव ने यह भी लिखा था इस कठोर कपाल में! ॥10॥

शीघ्र ही 'साहब बहादुर' ने हमें दर्शन दिये,
और झट 'हाँ' भी करा ली 'फिजी' जाने के लिये!
जानते थे हम न तब भी यह कि केवल एक 'हाँ'
पाँच बरसों के लिए रौरव नरक देती यहाँ! ॥11॥

देख लो, अब वह अतल जल सामने लहरा रहा,
काल का-सा केतु वह जलयान पर फहरा रहा।
यह हमारी सिन्धु-यात्रा हो महायात्रा कहीं,
फेर दे तो क्यों न हम पर सिन्धु तू पानी यहीं! ॥12॥

हाय रे भारत! तुझे इतना हमारा भार है—
जो हमारा अन्त भी तुझको नहीं स्वीकार है!
मृत्यु हित भी सात सागर पार जाना है हमें,
स्वर्ग के बदले वहाँ भी नरक पाना है हमें! ॥13॥

पूछने पर यह कि "कैसे है हुआ आना यहाँ,"
आर्य्यभूमि! हमें बता दे, क्या कहेंगे हम वहाँ?
बोल, यह कह दें कि तेरी कीर्ति करने के लिए,
या यही कह दें कि अपनी मौत मरने के लिए! ॥14॥

हड्डियाँ घोलीं तथा शोणित सुखाया है सदा,
उर्वरा करके तुझे दी है हमीं ने सम्पदा।
और भारतभूमि! तुझ से हा! हमीं वंचित रहे,
याद तो कर तू कि हमने कष्ट कितने हैं सहे ॥15॥

अन्नपूर्णारूपिणी माँ! तू हमें है छोड़ती,
हाय! माँ होकर सुतों से तू स्वयं मुँह मोड़ती!
तो विदा दे अब हमें, तू भोगती रह सुख सभी,
हम सदा तेरे, न चाहे तू हमारी हो कभी! ॥16॥

बस, जहाज! चले चलो, अब डगमगाना छोड़ दो,
पवन! तुम भी सिन्धु में लागें लगाना छोड़ दो।
देखने को सभ्ययुग के दृश्य हम हैं जा रहे,
किन्तु भीतर और बाहर क्यों हिलोरे आ रहे! ॥17॥

हम कुली थे और काले, गगन से मानों गिरे,
पशु-समान जहाज में थोड़ी जगह में थे घिरे!
भंगियों का काम भी परवश हमें करना पड़ा;
और कुत्तों की तरह पापी उदर भरना पड़ा! ॥18॥

मृत्यु का मुख-सा हमारे अर्थ रहता था खुला,
रोटियाँ पाते गिनी हम और पानी भी तुला!
बहुत हो तो गालियाँ खावें तथा आँसू पियें,
पूछता था कौन फिर चाहे मरें चाहे जियें! ॥19॥

बहुत लोग जहाज में ही कष्ट पा कर मर गये,
धन्य थे वे शीघ्र ही जो सब दुखों से तर गये!
जो मरा फेंका गया तृण-तुल्य सागर-नीर में,
हड्डियाँ भर पा सके जलचर विनष्ट शरीर में! ॥20॥

दूर चारों ओर मानों सिन्धु नभ में था धँसा,
बीच में गतिशील भी, जलयान मानों था फँसा।
ज्ञात होता था यही—अब निकलना सम्भव नहीं,
मर मिटेंगे बीच में हम सब यहीं दब कर कहीं! ॥21॥

त्योरियाँ अधिकारियों की बरछियाँ-सी हूलती,
दृष्टियाँ तलवार-सी सिर पर सदा थी झूलती।
वध्य पशु-सम अर्द्धमृत हम तीन मास सड़ा किये।
तब कहीं जा कर फिजी ने सामने दर्शन दिये! ॥22॥

कैदियों-सा पुलिस ने आकर हमें घेरा वहाँ,
काल की-सी कोठड़ी में फिर मिला डेरा वहाँ।
नींद भी डर से न सहसा कर सकी फेरा वहाँ,
दीखता था बस हमें अन्धेर-अन्धेरा वहाँ! ॥23॥

दैव! ला पटका कहाँ, हा! हम कहाँ भारत कहाँ;
जन्म पाया था वहाँ, आये तथा मरने यहाँ।
सो गया जब तक न मैं यों ही व्यथा होती रही,
किन्तु कुलवन्ती न सोई, रात भर रोती रही! ॥24॥

फिजी

अधम आरकाटी कहता था फिजी स्वर्ग है भूपर;
नभ के नीचे रह कर भी वह पहुँच गया है ऊपर।
मैं कहता हूँ फिजी स्वर्ग है तो फिर नरक कहाँ है,
नरक कहीं हो किन्तु नरक से बढ़कर दशा यहाँ है ॥1॥

दया भले ही न हो नरक में न्याय किया जाता है,
आता है हतभाग्य यहाँ जो दण्ड मात्र पाता है।
यम के दूत निरपराधों पर कब प्रहार करते हैं,
यहाँ निष्ठुरों के हाथों हम बिना मौत मरते हैं ॥2॥

ढोर कसाई खाने में बस भूख प्यास सहते हैं,
जोते कभी नहीं जाते हैं बँधे मात्र रहते हैं।
नियमबद्ध हम अधपेटों को खेत गोड़ने पड़ते,
अवधि पूर्ण होने के पहले प्राण छोड़ने पड़ते ॥3॥

गीध मरी लोथें खाते हैं ओवरसियर निरन्तर,
हाथ चलाते यहाँ हमारी जीती अबलाओं पर।
भारतीय कुलियों का मानों फिजी श्मशान हुआ है
हाय! मनुजता का मनुजों से यह अपमान हुआ है ॥4॥

भूमि राम जाने किसकी है, श्रम है यहाँ हमारा,
किन्तु विदेशी व्यापारी ही लाभ उठाते सारा।
जड़ यन्त्रों को भी तैलादिक भक्ष्य दिया जाता है,
अर्द्धाशन में हम से दूना काम लिया जाता है ॥5॥

हाथों में फोले पड़ जावें पर धरती को गोड़ो,
रोगी रहो, किन्तु जीते जी कार्य अपूर्ण न छोड़ो।
ये गन्नों के खेत खड़े हैं इनसे खाँड़ बनेगी,
उससे तुम्हीं भारतीयों की मीठी भंग छनेगी ॥6॥

भारतवासी बन्धु हमारे! तुम यह खाँड़ न लेना,
लज्जा से यदि न हो घृणा से इसे न मुँह में देना।
हम स्वदेशियों के शोणित में यह शर्करा सनी है,
हाय! हड्डियाँ पिसी हमारी तब यह यहाँ बनी है ॥7॥

वह देखो, किसकी ठोकर से किसकी तिल्ली टूटी,
धरती लाल हुई शोणित से हाय! खोपड़ी फूटी।
अपनी फाँसी आप कौन वह लगा रहा है देखो,
जीवन रहते विवश मृत्यु को जगा रहा है देखो ॥8॥

देखो, दूर खेत में है वह कौन दुःखिनी नारी,
पड़ी पापियों के पाले है वह अबला बेचारी।
देखो, कौन दौड़ कर सहसा कूद पड़ी वह जल में,
पाप जगत से पिण्ड छुड़ा कर डूबी आप अतल में ॥9॥

न्यायदेवता के मन्दिर में देखो, वह अभियोगी,
हो उलटा अभियुक्त आप ही हुआ दण्ड का भोगी।
प्रतिवादी वादी बन बैठा, वह ठहरा अधिकारी,
साक्षी कहाँ, कहाँ है साक्षी, है पूरी लाचारी ॥10॥

डूबे हुए पसीने में वे कौन आ रहे देखो,
आँखों में भी स्वेद बिन्दु या अश्रु छा रहे देखो।
परवश होकर दस दस घण्टे हैं वे खेत निराते,
साँझ हुए पर गिरते पड़ते डेरे पर हैं आते ॥11॥

दस नर पीछे तीन नारियाँ थकी और शंकित-सी,
देखो, लौट रही हैं कैसी पत्थर में अंकित-सी।
बुझे हुए दीपक-से मन हैं, नहीं निकलती वाणी;
हा भगवान! मनुज हैं ये भी अथवा गूँगे प्राणी ॥12॥

सुनो, फिजीवासी असभ्य वे हम से क्या कहते हैं—
क्या तुम जैसे ही जघन्य जन भारत में रहते हैं?
धिक् है उसको जिसके सुत यों घोर अनादर पावें,
पुरुष कहा कर पशुओं से भी बढ़कर समझे जावें ॥13॥

हे भारत के वीर वकीलो, हम क्या उत्तर देवें,
अथवा यह अपमान देश का चुप रह कर सह लेवें
अब भी गाँधी जैसे सुत की जननी भारतमाता,
तुझ से यह दुर्दृश्य निरन्तर कैसे देखा जाता ॥14॥

दे कर अन्न दूसरों का भी माँ, तू पालन करती,
पर तेरी सन्तति उसके हित परदेशों में मरती।
मरना ही है तो हे जननी! घर में ही न मरें क्यों,
परवश हो कर यहाँ आप ही अपना घात करें क्यों ॥15॥

रख न सके हम पुत्रों को ही होकर भी जो धरणी,
भरण न जो कर सके हमारा हो कर भी भवभरणी।
तो भगवान, भारतीयों की तनिक तुम्हीं सुध लीजो,
वहीं नरक है, मरने को ही जग में जन्म न दीजो ॥16॥

इसके आगे और क्या कहूँ जो कुछ मुझ पर बीती,
सब सह कर भी मुझे देखकर कुलवन्ती थी जीती।
मैं भी उसे देख जीता था मिथ्या है यह कहना,
ऐसा होता तो स्मृति-दंशन क्यों पड़ता यह सहना? ॥17॥

बस यह बात समाप्त करूँगा वही हाल कह कर मैं,
खोद रहा था खेत एक दिन ज्वराक्रान्त रह कर मैं।
गेंती का उठना गिरना थी गिनती मेरी साँसें,
हाथों में लिखती जाती थी उसे बेंट की आँसें ॥18॥

दिनकर सिर माथे पर थे जो मुझे निहार रहे थे,
रोम रोम से पाद्य प्राप्त कर स्वपद पखार रहे थे।
बड़ी दूर सुन पड़ा अचानक मुझको कुछ चिल्लाना,
चिर-परिचित कुलवन्ती का स्वर कानों ने पहचाना ॥19॥

हृदय धड़कने लगा वेग से शेष रहा बस फटना,
याद आ गयी वह भारत की नदी तीर की घटना।
जिसे तेंदुवे के पंजे से उस दिन बचा लिया था,
बचा सकोगे आज न उसको कहता यही हिया था ॥20॥

शीघ्र दौड़ कर जा कर मैंने कुलवन्ती को देखा,
भूपर पड़ी हुई थी मेरे नभ की हिमकर लेखा।
मुँह से बहते हुए रुधिर से अंचल लाल हुआ था,
हा! स्वधर्म रखने में उसका ऐसा हाल हुआ था ॥21॥

पूछा मैंने—"यह क्या है" वह बोली "अन्त समय है,
किन्तु आ गये तुम अब मुझको नहीं मृत्यु का भय है।
तुम्हें देख कर काल रूप वह ओवरसियर गया है,
यह चिर शान्ति आ रही है अब यह भी दैव दया है ॥22॥

प्रकटित करके पाप-वासना वह दुःशील सुरापी,
लोभ और भय दे कर मुझको लगा छेड़ने पापी,
किन्तु विफल होकर फिर उसने यह दुर्गति की मेरी,
सुखी रहो तुम सदा सर्वदा, मुझे नहीं अब देरी ॥23॥

यही शोक है, दे न सकी मैं अंक मयंक तुम्हारा,
रहा पेट ही में वह मेरे चला नहीं कुछ चारा।
लो बस अब मैं चली सदा को मन में मत घबराना,
मेरे फूल जा सको तुम तो, भारत को ले जाना" ॥24॥

हाय! आज भी उन बातों से फटती यह छाती है,
कुलवन्ती, कुलवन्ती मुझको छोड़ कहाँ जाती है।
तनिक ठहर, मैं भी चलता हूँ, चली न जाना तौलों,
तेरे पीड़क के शोणित से प्यास बुझा लूँ जौलों ॥25॥

बड़े कष्ट से फिर वह बोली—"नादानी रहने दो,
मेरा ही शोणित नृशंस के आस पास बहने दो।
डूब जायगा वह उसमें ही तैर नहीं पावेगा,
सती गर्भिणी अबला का वध वृथा नहीं जावेगा ॥26॥

यही नहीं यह कुली-प्रथा भी उसमें वह जावेगी,
भावी भारत में बस इसकी स्मृति ही रह जावेगी।
रहे न वह अपमान स्मृति भी प्रभु से यही विनय है,
पूर्व निरादर भी मानी को बन जाता विषमय है ॥27॥

शासक जब इन सब बातों का पूर्ण पता पा लेंगे,
तब अपना कर्त्तव्य आप ही वे अवश्य पा लेंगे।
मेरा मन कहता है कोई काम तुम्हें है करना,
है मेरी सौगन्ध तुम्हें तुम इस प्रकार मत मरना ॥28॥

हे भगवान! तुम्हारे सब दुख मैं ही लेती जाऊँ,
और जन्म-जन्मान्तर में भी तुम को ही फिर पाऊँ।"
इसके बाद याद है, मैंने राम राम सुन पाया,
उसी नाम को गिरते गिरते मैंने फिर दुहराया ॥29॥

प्रत्यावर्तन

कुलवन्ती! तू भी छोड़ गयी क्या मुझको?
क्यों मेरा रहना यहाँ इष्ट था तुझको।
रख कर तेरी सौगन्ध रहूँगा अब मैं;
मरणाधिक दुख आमरण सहूँगा अब मैं ॥1॥

तू जहाँ गयी भय नहीं वहाँ पर कोई;
पर मैंने अपनी आज हृदय-निधि खोई।
मरने का अवसर खोज रहा हूँ अब मैं,
यह तो कह जाती कि पा सकूँगा कब मैं ॥2॥

मिथ्या हो सकती नहीं सती की वाणी,
बड़वाग्नि बुझा सकता न सिन्धु का पानी।
अनुभव करता हूँ परम सत्यता तेरी,
क्या स्वप्न मात्र है प्रिये! कथा वह मेरी? ॥3॥

दो सहृदय साहब यहाँ शीघ्र ही आये;
दुख देख हमारे चार नेत्र भर लाये।
ऐन्ड्रयूज-पियर्सन विदित नाम हैं उनके,
मनुजोचित मंगल मनस्काम हैं उनके ॥4॥

उनकी रिपोर्ट पढ़ दशा हमारी जानों,
फिर मैंने जो कुछ कहा सत्य सब मानों।
पशु कर रक्खें जो मनुज कहीं मनुजों को,
पशु क्यों न कहूँ उन मनुज रूप दनुजों को ॥5॥

अन्यान्य अनेक मनुष्य भाव के मानी,
यों देख सके उसकी न यहाँ पर हानि।
निज दुर्गति सुन चौंकने लगा भारत भी,
हा! 'भी' पद पर आसीन जगा भारत भी ॥6॥

समझी भारत सरकार अन्त में बातें,
निज कुली प्रजा के साथ यहाँ की घातें।
थे बड़े लाट हार्डिज—भला हो उनका—
सह सके न लगना न्याय-दण्ड में घुन का ॥7॥

थे यदपि यहाँ के वणिक वर्ण से भाई,
देखा न उन्होंने स्वार्थ, दया दिखलाई।
बस पक्षपात से न्यायशील डरते हैं,
आत्मा का कभी विरोध नहीं करते हैं ॥8॥

क्या किया उन्होंने नहीं जानता हूँ मैं,
पर उन्हें न्याय का रूप मानता हूँ मैं।
थी तीन नरों में जहाँ एक ही नारी,
टूटी आखिर वह कुली प्रथा व्यभिचारी ॥9॥

बिजली ने यह वृत्तान्त यहाँ जब भेजा,
दहला वणिकों का वज्र समान कलेजा।
हम सब के उर में इधर फिरी बिजली-सी,
डीपो वालों पर उधर गिरी बिजली-सी ॥10॥

उन मृगों से कि जो जटिल जाल से छूटे,
पूछो हम ने जो सौख्य उस समय लूटे।
जय जय करके सब सुधा स्वाद लेते थे,
मृत बन्धु जनों को सुसंवाद देते थे ॥11॥

उस घृणित प्रथा से मुक्ति देश ने पायी;
फिर हम लोगों के लिए शुभ घड़ी आयी।
भारत को लौटे चले जा रहे हम हैं;
बह गया हुआ स्वातन्त्र्य पा रहे हम हैं ॥12॥

कुलवन्ती, तू क्यों आज कुछ नहीं कहती,
तेरे शोणित में कुली-प्रथा है बहती।
लेकर मैं तेरे फूल चला भारत को,
तू एक बार तो देख भला भारत को ॥13॥

भारत! फिर क्यों तू याद आ रहा मुझको,
क्यों दिन दिन अपने निकट ला रहा मुझको।
आता है मेरी ओर आज तू ज्यों ज्यों,
होता है मुझको महामोद क्यों त्यों त्यों ॥14॥

अब अपना कहने योग्य कौन है तुझमें,
जो है तेरा अभिमान, आज भी मुझमें।
तू तो है तुझमें देश! आज भी मेरा,
तुझमें है भाषा-वेश आज भी मेरा ॥15॥

तेरे गीतों में भाव भरा है मेरा,
तेरी चर्चा में चाव भरा है मेरा।
तुझ में पुरुखों का गेह बना है मेरा,
तेरे तत्त्वों से देह बना है मेरा ॥16॥

तुझ में अब भी कुल रीति नीति है मेरी,
इस कारण तुझ पर परा प्रीति है मेरी।
पाता हूँ जग में कहीं न तेरी समता,
होती विदेश में ही स्वदेश की ममता ॥17॥

यद्यपि तुझ में है दुःख निरन्तर पाया,
पर जा सकता तू नहीं कदापि भुलाया।
तू मेरा है यह भाव रहेगा मन में,
जब तक ये मेरे प्राण रहेंगे तन में ॥18॥

देखूँ, भारत! मैं तुझे देखता हूँ कब,
इच्छा है केवल एक यही जी में अब।
हमको स्वदेश जलयान, शीघ्र पहुँचाओ,
वह स्वप्न दृश्य प्रत्यक्ष सामने लाओ ॥19॥

अन्त

उतर नाव से सिर पर रक्खी सबने भारत की वह धूल,
जिस पर प्रकृति चढ़ा रखती है रंग बिरंगे सुरभित फूल।
किया चिबुक चुम्बन समीर ने देकर हमें सुरभि उपहार,
पल्लव पाणि युक्त विटपों ने किया सहज स्वागत सत्कार ॥1॥

सोच रहा था मैं मन ही मन करूँ कौन सा अब मैं काम,
जिसमें कुलवन्ती की आत्मा पावे शान्ति और विश्राम।
सहसा हुआ विचार कि जिसने हमें नरक से लिया उबार,
पड़ी आज कल रण संकट में वह मेरी उदार सरकार ॥2॥

मेरे लिए यही अवसर है कि मैं करूँ उसका ऋण शोध,
धिक है जो उसके रिपुओं पर अब भी मुझे न आवे क्रोध।
धन यदि नहीं, न हो पर तन तो अब भी मेरा है अवशिष्ट,
उसके रहते हुए राज्य का देखूँ मैं किस भाँति अनिष्ट ॥3॥

पर हल और फावड़े तक ही सीमाबद्ध रहे जो हाथ,
चला सकेंगे क्या शस्त्रों को रण में वे कौशल के साथ।
धनुर्वेद की शिक्षा पाकर बनते थे जो विश्रुत बीर,
होकर अब निःशस्त्र वही हम हुए हाय! अत्यन्त अधीर ॥4॥

कुछ हो, किन्तु कुली जीवन से रण का मरण भला है नित्य,
एक शत्रु भी मार सका मैं तो हो जाऊँगा कृतकृत्य।
कहा साथियों से तब मैंने अपना अभिप्राय तत्काल,
और कहा कि भाइयो, आओ, तोड़ें शत्रु जनों के जाल ॥5॥

वृटिश राज्य के उपकारों का बदल चलो, चुका दें आज,
मरें न्याय के लिए समर में रक्खें मनुष्यता की लाज।
पन्ना जैसी माताओं ने देकर भी गोदी के लाल,
यहाँ राजकुल की रक्षा की चली न बनवीरों की चाल ॥6॥

उसी देश में जन्मे हैं हम हुए जहाँ झालापति मान,
भारत का प्रताप रखने को दिये जिन्होंने रण में प्राण।
राजभक्ति सर्वत्र हमारी रही सदा से ही विख्यात,
उसे दिखाने का शुभ अवसर यही मुझे होता है ज्ञात ॥7॥

किया साथियों के सम्मुख जो मैंने यह अपना प्रस्ताव,
जाग उठे बस सब के मन में सहसा श्रद्धा साहस भाव।
हुए सहस्रों की संख्या में सेना में प्रविष्ट हम लोग,
कृषक, कुली फिर सैनिक जीवन देखो, नये नये संयोग ॥8॥

इसी समय सरकार न्याय कर भारतीय वीरों के साथ,
उन्हें अफसरी के परवाने देने लगी बढ़ाकर हाथ।
भारतीय ही थे हम सब की सेना के संचालक वीर,
पाकर यों उत्साह हमारे पुलक पूर्ण हो उठे शरीर ॥9॥

आखिर शुभ मुहूर्त में सब ने रण के लिए किया प्रस्थान
हिलता डुलता गर्व पूर्ण सा चलने लगा प्रवल जलयान।
बीच बीच में सीतावर की करते थे सब जय जयकार,
स्वर में स्वर देकर अनन्त भी करता था उसकी गुंजार ॥10॥

यथा समय टिगरिस के तट पर उतरे हम सब डेरे डाल,
समाचार पत्रों में पढ़ना इस के आगे का सब हाल।
एक रोज अरिदल से आकर मैं अचेत हो हुआ सचेत,
'विक्टोरिया क्रास' छाती पर देखा मैंने शान्ति समेत ॥11॥

भारतीय कप्तान हमारे मुझे धैर्य देकर सविशेष,
पूछ रहे हैं घर कहने को अब मेरा अन्तिम सन्देश।
पाठक, क्या कहकर मैं इन से माँगूँ तुमसे बिदा सहर्ष,
और मिलूँ झट कुलवन्ती से पाकर अन्त समय उत्कर्ष ॥12॥

भारतीय मेरे बान्धव हैं, घर है मेरा सारा देश,
बस यह मेरा आत्म चरित ही है मेरा अन्तिम सन्देश।
इससे अधिक और क्या अब मैं कह सकता हूँ हे भगवान,
मेरे साथ देश के सारे दुखों का भी हो अवसान ॥13॥

(फाल्गुनी पूर्णिमा संवत् 1973)

पंचवटी

सरल-हृदय, शील-सम्पन्न, और

सदाचार-परायण

श्रीमान् राजा श्रीकृष्णदत्तजी दुबे महोदय

(जौनपुर)

के

कर-कमलों में

उनके आराध्य श्रीसौमित्रिदेव के

पवित्र मानव-चरित्र का यह एक अंश

लेखक द्वारा

सादर और सस्नेह

समर्पित है।

श्रीः

पूर्वाभास

(1)

पूज्य पिता के सहज सत्य पर
वार सुधाम, धरा, धन को,
चले राम, सीता भी उनके
पीछे चलीं गहन वन को।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे,
कहा राम ने कि "तुम कहाँ?"
विनत वदन से उत्तर पाया—
"तुम मेरे सर्वस्व जहाँ ॥"

(2)

सीता बोलीं कि "ये पिता की
आज्ञा से सब छोड़ चले,
पर देवर, तुम त्यागी बनकर
क्यों घर से मुँह मोड़ चले?"
उत्तर मिला कि "आर्य्ये, बरबस
बना न दो मुझ को त्यागी,
आर्य्य-चरण-सेवा में समझो
मुझ को भी अपना भागी ॥"

(3)

"क्या कर्तव्य यही है भाई?"
लक्ष्मण ने सिर झुका लिया,
"आर्य्य, आप के प्रति इस जन ने
कब कब क्या कर्तव्य किया?"
"प्यार किया है तुम ने केवल!"
सीता यह कह मुसकाईं,
किन्तु राम की उज्ज्वल आँखें
सफल सीप-सी भर आईं ॥

श्रीगणेशाय नमः

पंचवटी

(1)

चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में,
श्वेत वसन-सा बिछा हुआ है,
अवनि और अम्बरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित-तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी
मन्द पवन के झोकों से ॥

(2)

पंचवटी की छाया में है
सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
धीर, वीर, निर्भीकमना।
जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जब कि भुवन भर सोता है,
भोगी कुसुमायुध योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है ॥

(3)

किस व्रत में है व्रती वीर यह
निद्रा का यों त्याग किये,
राजभोग्य के योग्य विपिन में
बैठा आज विराग लिये।
बना हुआ है प्रहरी जिसका
उस कुटीर में क्या धन है,
जिसकी रक्षा में रत इसका
तन है, मन है, जीवन है?

(4)

मर्त्यलोक-मालिन्य मेटने
स्वामि-संग जो आयी है,
तीन लोक की लक्ष्मी ने यह
कुटी आज अपनायी है।
वीर-वंश की लाज वही है
फिर क्यों वीर न हो प्रहरी?
विजन देश है, निशा शेष है,
निशाचरी माया ठहरी!

(5)

कोई पास न रहने पर भी
जन-मन मौन नहीं रहता,
आप आप की सुनता है वह,
आप आप से है कहता।
बीच बीच में इधर उधर निज
दृष्टि डाल कर मोद मयी,
मन ही मन बातें करता है
धीर धनुर्धर नयी नयी—

(6)

"क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह,
है क्या ही निस्तब्ध निशा;

है स्वच्छन्द-सुमन्द गन्धवह,
निरानन्द है कौन दिशा?
बन्द नहीं अब भी, चलते हैं
नियति-नटी के कार्य्य-कलाप,
पर कितने एकान्त भाव से,
कितने शान्त और चुपचाप!

(7)

है बिखेर देती वसुन्धरा
मोती, सब के सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको
सदा, सबेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी
सन्ध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम तनु जिससे उसका
नया रूप झलकाता है!

(8)

तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके,
पर है मानों कल की बात!
वन को आते देख हमें जब
आर्त, अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब
अवधि पूर्ण होगी वन की;
किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को
इससे बढ़ कर किस धन की?

(9)

और आर्य्य को? राज्य-भार तो
वे प्रजार्थ ही धारेंगे,
व्यस्त रहेंगे, हम सब को भी
मानों विवश बिसारेंगे।

कर विचार लोकोपकार का
हमें न इससे होगा शोक;
पर अपना हित आप क्या नहीं
कर सकता है यह नरलोक?

(10)

मझली माँ ने क्या समझा था?
कि मैं राजमाता हूँगी;
निर्वासित कर आर्य्य राम को,
अपनी जड़ें जमा लूँगी!
चित्रकूट में किन्तु उसे ही
देख स्वयं करुणा थकती,
उसे देखते थे सब, वह थी
निज को ही न देख सकती!

(11)

अहो! राजमातृत्व यही था,
हुए भरत भी सब त्यागी;
पर सौ सौ सम्राटों से भी
हैं सचमुच वे बड़भागी।
एक राज्य का मूढ़ जगत ने
कितना महा मूल्य रक्खा,
हम को तो मानों वन में ही
है विश्वानुकूल्य रक्खा!

(12)

होता यदि राजत्व मात्र ही
लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको
छोड़ मार्ग लेते वन का?
परिवर्तन ही यदि उन्नति है
तो हम बढ़ते जाते हैं,

किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे
पूर्व-भाव ही भाते हैं ॥

(13)

जो हो, जहाँ आर्य्य रहते हैं
वहीं राज्य वे करते हैं;
उनके शासन में वनचारी
सब स्वच्छन्द विहरते हैं।
रखते हैं सयत्न हम पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बन्द,
वे पशु-पक्षी भाभी से हैं
हिले यहाँ स्वयमपि, सानन्द!

(14)

करते हैं हम पतित जनों में
बहुधा पशुता का आरोप,
करता है पशुवर्ग किन्तु क्या
निज निसर्ग नियमों का लोप?
मैं मनुष्यता को सुरत्व की
जननी भी कह सकता हूँ,
किन्तु पतित को पशु कहना भी
कभी नहीं सह सकता हूँ।

(15)

आ आकर विचित्र पशु-पक्षी
यहाँ बिताते दोपहरी,
भाभी भोजन देतीं उनको,
पंचवटी छाया गहरी।
चारु चपल बालक ज्यों मिल कर
माँ को घेर खिझाते हैं,
खेल-खिझाकर भी आर्य्या को
वे सब यहाँ रिझाते हैं!

(16)

गोदावरी नदी का तट वह
ताल दे रहा है अब भी,
चंचल जल कल कल कर मानों
तान ले रहा है अब भी!
नाच रहे हैं अब भी पत्ते,
मन-से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललक कर
लालच भरे लहकते हैं ॥

(17)

वैतालिक विहंग भाभी के
सम्प्रति ध्यानलग्न-से हैं,
नये गान की रचना में वे
कवि-कुल-तुल्य मग्न-से हैं।
बीच बीच में नर्तक केकी
मानों यह कह देता है—
मैं तो प्रस्तुत हूँ, देखें कल
कौन बड़ाई लेता है ॥

(18)

आँखों के आगे हरियाली
रहती है हर घड़ी यहाँ,
जहाँ तहाँ झाड़ी में झिरती
है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक एक हिमकणिका
जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ सौ नागरिक जनों की
वैसी विमल रम्य रुचि है?

(19)

मुनियों का सत्संग यहाँ है
जिन्हें हुआ है तत्त्व-ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे
नित्य नये अनुपम आख्यान।
जितने कष्ट-कण्टकों में है
जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव-गन्ध उन्हें उतना ही
अत्र, तत्र, सर्वत्र मिला ॥

(20)

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढ़ते हैं
शुक-सारी भी आश्रम के,
मुनिकन्याएँ यश गाती हैं,
क्या ही पुण्य-पराक्रम के।
अहा! आर्य्य के विपिन-राज्य में
सुख पूर्वक सब जीते हैं,
सिंह और मृग एक घाट पर
आकर पानी पीते हैं!

(21)

गुह, निषाद, शवरों तक का मन
रखते हैं प्रभु कानन में;
क्या ही सरल वचन रहते हैं
इनके भोले आनन में!
इन्हें समाज नीच कहता है,
पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमें भी मन और भाव हैं
किन्तु नहीं वैसी वाणी ॥

(22)

कभी विपिन में हमें व्यंजन का
पड़ता नहीं प्रयोजन है,
निर्मल जल, मधु, कन्द, मूल, फल—
आयोजनमय भोजन है।
मनःप्रसाद चाहिए केवल,
क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद?
भाभी का आह्लाद अतुल है,
मझली माँ का विपुल विषाद!

(23)

अपने पौधों में जब भाभी
भर भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निरातीं
जब वे अपनी खेती हैं।
पाती हैं तब कितना गौरव,
कितना सुख, कितना सन्तोष!
स्वावलम्ब की एक झलक पर
न्यौछावर कुबेर का कोष॥

(24)

सांसारिकता में मिलती है
यहाँ निराली निस्पृहता,
अत्रि और अनसूया की-सी
होगी कहाँ पुण्य-गृहता?
मानों है यह भुवन भिन्न ही,
कृत्रिमता का काम नहीं,
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी,
कहीं विकृति का नाम नहीं॥

(25)

स्वजनों की चिन्ता है हम को,
होगा उन्हें हमारा सोच;
यही एक इस विपिन-वास में
दोनों ओर रहा संकोच।
सब सह सकता है, परोक्ष ही
कभी नहीं सह सकता प्रेम,
बस, प्रत्यक्ष भाव में उसका
रक्षित-सा रहता है क्षेम॥

(26)

इच्छा होती है, स्वजनों को
एक बार वन ले आऊँ,
और यहाँ की अनुपम महिमा
उन्हें घुमाकर दिखलाऊँ।
विस्मित होंगे देख आर्य्य को
वे घर की ही भाँति प्रसन्न,
मानों वन-विहार में रत हैं
ये वैसे ही श्रीसम्पन्न!

(27)

यदि बाधाएँ हुईं हमें तो
उन बाधाओं के ही साथ,
जिससे बाधा-बोध न हो, वह
सहनशक्ति भी आयी हाथ।
जब बाधाएँ न भी रहेंगी
तब भी शक्ति रहेगी यह,
पुर में जाने पर भी वन की
स्मृति अनुरक्ति रहेगी यह॥

(28)

नहीं जानतीं हाय! हमारा
माताएँ आमोद-प्रमोद,
मिली हमें है कितनी कोमल,
कितनी बड़ी प्रकृति की गोद।
इसी खेल को कहते हैं क्या
विद्वज्जन जीवन-संग्राम?
तो इसमें सुनाम कर लेना
है कितना साधारण काम!

(29)

बेचारी ऊर्म्मिला हमारे लिए
व्यर्थ रोती होगी,
क्या जाने वह, हम सब वन में
होंगे इतने सुख-भोगी!"
मग्न हुए सौमित्रि चित्र-सम
नेत्र निमीलित एक निमेष,
फिर आँखें खोलें तो यह क्या,
अनुपम रूप, अलौकिक वेष!

(30)

चकाचौंध-सी लगी देख कर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख
एक हास्यवदनी बाला!
रत्नाभरण भरे अंगों में
ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ
जुगनू जगमग जगते थे!

(31)

थी अत्यन्त अतृप्त वासना
दीर्घ दृगों से झलक रही,
कमलों की मकरन्द-मधुरिमा
मानों छवि से छलक रही।
किन्तु दृष्टि थी जिसे खोजती
मानों उसे पा चुकी थी,
भूली-भटकी मृगी अन्त में
अपनी ठौर आ चुकी थी ॥

(32)

कटि के नीचे चिकुर-जाल में
उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से
लोल कमल भौंरों के साथ।
दायाँ हाथ लिये था सुरभित–
चित्र-विचित्र-सुमन-माला,
टाँगा धनुष कि कल्पलता पर
मनसिज ने झूला डाला!

(33)

पर सन्देह-दोल पर ही था
लक्ष्मण का मन झूल रहा,
भटक भावनाओं के भ्रम में
भीतर ही था भूल रहा।
पड़े विचार-चक्र में थे वे,
कहाँ न जानें कूल रहा;
आज जागरित-स्वप्न-शाल यह
सम्मुख कैसा फूल रहा!

(34)

देख उन्हें विस्मित विशेष वह
सुस्मितवदनी ही बोली—
(रमणी की मूरत मनोज्ञ थी
किन्तु न थी सूरत भोली)
"शूरवीर होकर अबला को
देख सुभग, तुम थकित हुए,
संसृति की स्वाभाविकता पर
चंचल होकर चकित हुए!

(35)

प्रथम बोलना पड़ा मुझे ही,
पूछी तुम ने बात नहीं;
इससे पुरुषों की निर्ममता
होती क्या प्रतिभात नहीं?"
सँभल गये थे अब तक लक्ष्मण
वे थोड़े से मुसकाये,
उत्तर देते हुए उसे फिर
निज गम्भीर भाव लाये—

(36)

"सुन्दरि, मैं सचमुच विस्मित हूँ
तुम को सहसा देख यहाँ,
ढलती रात, अकेली अबला,
निकल पड़ी तुम कौन, कहाँ?
पर अबला कह कर अपने को
तुम प्रगल्भता रखती हो,
निर्ममता निरीह पुरुषों में
निस्सन्देह निरखती हो!

(37)

पर मैं ही यदि परनारी से
पहले सम्भाषण करता,
तो छिन जाती आज कदाचित्
पुरुषों की सुधर्म्मपरता।
जो हो, पर मेरे बारे में
बात तुम्हारी सच्ची है,
चण्डि, क्या कहूँ, तुम से, मेरी
ममता कितनी कच्ची है॥

(38)

माता, पिता और पत्नी की,
धन की, धाम-धरा की भी,
मुझे न कुछ भी ममता व्यापी
जीवन-परम्परा की भी।
एक—किन्तु उन बातों से क्या,
फिर भी हूँ मैं परम सुखी,
ममता तो महिलाओं में ही
होती है हे मंजुमुखी!

(39)

शूरवीर कह कर भी मुझ को
तुम जो भीरु बताती हो,
इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम
अपनी मुझे जताती हो।
भाषण-भंगी देख तुम्हारी
हाँ, मुझ को भय होता है,
प्रमदे, तुम्हें देख वन में यों
मन में संशय होता है॥

(40)

कहूँ मानवी यदि मैं तुम को
तो वैसा संकोच कहाँ?
कहूँ दानवी तो उस में है
यह लावण्य कि लोच कहाँ?
वनदेवी समझूँ तो वह तो
होती है भोली भाली,
तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो
हे रंजित रहस्य वाली?"

(41)

"केवल इतना कि तुम कौन हो"
बोली वह "हा निष्ठुर कान्त!
यह भी नहीं—'चाहती हो क्या,'
कैसे हो मेरा मन शान्त?
मुझे जान पड़ता है, तुम से
आज छली जाऊँगी मैं;
किन्तु आ गयी हूँ जब तब क्या
सहज चली जाऊँगी मैं?

(42)

समझो मुझे अतिथि ही अपना,
कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या?
पत्थर पिघले किन्तु तुम्हारा
तब भी हृदय हिलेगा क्या?"
किया अधर-दंशन रमणी ने
लक्ष्मण फिर भी मुसकाये,
मुसकाकर ही बोले उससे—
"हे शुभ मूर्तिमती माये!

(43)

तुम अनुपम ऐश्वर्य्यवती हो,
एक अकिंचन जन हूँ मैं;
क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ,
वन-वासी, निर्धन हूँ मैं।"
रमणी ने फिर कहा कि "मैंने
भाव तुम्हारा जान लिया,
जो धन तुम्हें दिया है विधि ने
देवों को भी नहीं दिया!

(44)

किन्तु विराग भाव धारण कर
बनें आप यदि तुम त्यागी,
तो ये रत्नाभरण वार दूँ
तुम पर मैं हे बड़भागी!
धारण करूँ योग तुम-सा ही
भोग-लालसा के कारण,
पर कर सकती हूँ मैं यों ही
विपुल-विघ्न बाधा वारण॥

(45)

इस व्रत में किस इच्छा से तुम
व्रती हुए हो, बतलाओ?
मुझ में वह सामर्थ्य है कि तुम
जो चाहो सो सब पाओ।
धन की इच्छा हो तुम को तो
सोने का मेरा भू-भाग,
शासक, भूप बनो तुम उसके,
त्यागो यह अति विषम विराग॥

(46)

और, किसी दुर्जय वैरी से
लेना है तुम को प्रतिशोध,
तो आज्ञा दो, उसे जला दे
कालानल-सा मेरा क्रोध।
प्रेम-पिपासु किसी कान्ता के
तपस्कूप यदि खनते हो,
तो सचमुच ही तुम भोले हो,
क्यों मन को यों हनते हो?

(47)

अरे, कौन है, वार न देगी
जो इस यौवन-धन पर प्राण?
खोओ इसे न यों ही हा हा!
करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु संसार भार-सा
देता हो यदि तुम को ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम
एक और अवसर दो दानि!"

(48)

लक्ष्मण फिर गम्भीर हो गये,
बोले "धन्यवाद, धन्ये!
ललना-सुलभ सहानुभूति है
निश्चय तुम में नृपकन्ये!
साधारण रमणी कर सकती
है ऐसे प्रस्ताव कहीं?
पर मैं तुम से सच कहता हूँ,
कोई मुझे अभाव नहीं॥"

(49)

"तो फिर क्या निष्काम तपस्या
करते हो तुम इस वय में?
पर क्या पाप न होगा तुमको
आश्रम के धर्म्मक्षय में?
मान लो कि वह न हो, किन्तु इस
तप का फल तो होगा ही,
फिर वह स्वयं प्राप्त भी तुम से
क्या न जायगा भोगा ही?

(50)

वृक्ष लगाने की ही इच्छा
कितने ही जन रखते हैं,
पर उनमें जो फल लगते हैं
क्या वे उन्हें न चखते हैं?"
लक्ष्मण अब हँस पड़े और यों
कहने लगे "दुहाई है!
संतमेंत की तापस पदवी
मैंने तुम से पाई है ॥

(51)

यों ही यदि तप का फल पाऊँ
तो मैं उसे न चक्खूँगा,
तुम से जन के लिए यत्न से
उसको रक्षित रक्खूँगा।"
हँसी सुन्दरी भी, फिर बोली—
"यदि वह फल मैं ही होऊँ,
तो क्या करो, बताओ? बस अब,
क्यों अमूल्य अवसर खोऊँ?"

(52)

"तो मैं योग्य पात्र खोजूँगा,
सहज परन्तु नहीं यह काम;"
"मैं ने खोज लिया है उसको,
यद्यपि नहीं जानती नाम।
फिर भी वह मेरे समक्ष है,"
चौंके लक्ष्मण, बोले "कौन?"
केवल "तुम" कह कर रमणी भी
हुई तनिक लज्जित हो मौन!

(53)

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो,
कि मैं विवाहित हूँ बाले!"
"पर क्या पुरुष नहीं होते हैं
दो दो दाराओं वाले?
नर कृत शास्त्रों के सब बन्धन
हैं नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर!"

(54)

"तो नारियाँ शास्त्र-रचना कर
क्या बहुपति का करें विधान?
पर उनके सतीत्व-गौरव का
करते हैं नर ही गुणगान।
मेरे मत में एक ओर हैं
शास्त्रों की विधियाँ सारी,
अपना अन्तःकरण आप है
आचारों का सुविचारी॥

(55)

नारी के जिस भव्य भाव का
साभिमान भाषी हूँ मैं,
उसे नरों में भी पाने का
उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं।
बहुविवाह-विभ्राट, क्या कहूँ,
भद्रे, मुझको क्षमा करो;
तुम कुशला हो, किसी कृती को
करो कहीं कृतकृत्य, वरो ॥"

(56)

"पर किस मन से वरूँ किसी को?
मन तो तुम से हरा गया!"
"चोरी का अपराध और भी
लो, यह मुझ पर धरा गया!"
"झूठा?" प्रश्न किया प्रमदा ने
और कहा "मेरा मन हाय!
निकल गया है मेरे कर से
होकर विवश, विकल, निरुपाय!

(57)

कह सकते हो तुम कि चन्द्र का
कौन दोष जो ठगा चकोर?
किन्तु कलाधर ने डाला है
किरण-जाल क्यों उसकी ओर?
दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो
जलता कैसे कूद पतंग?
वाद्य-मुग्ध करके ही फिर क्या
व्याध पकड़ता नहीं कुरंग?

(58)

लेकर इतना रूप कहो तुम
दीख पड़ें क्यों मुझे छली?
चले प्रभात-वात फिर भी क्या
खिले न कोमल कमल-कली?"
कहने लगे सुलक्षण लक्ष्मण—
"हे विलक्षणे, ठहरो तुम;
पवनाधीन पताका-सी यों
जिधर तिधर मत फहरो तुम ॥

(59)

जिसकी रूप-स्तुति करती हो
तुम आवेग युक्त इतनी,
उसके शील और कुल की भी
अवगति है तुमको कितनी?"
उत्तर देती हुई कामिनी
बोली अंग शिथिल करके—
"हे नर, यह क्या पूछ रहे हो
अब तुम हाय! हृदय हर के?

(60)

अपना ही कुल-शील प्रेम में
पड़ कर नहीं देखतीं हम,
प्रेम-पात्र का क्या देखेंगी
प्रिय हैं जिसे लेखतीं हम?
रात बीतने पर है अब तो
मीठे बोल बोल दो तुम,
प्रेमातिथि है खड़ा द्वार पर,
हृदय-कपाट खोल दो तुम ॥"

(61)

"हा नारी! किस भ्रम में है तू,
प्रेम नहीं यह तो है मोह;
आत्मा का विश्वास नहीं यह
है तेरे मन का विद्रोह।
विष से भरी वासना है यह,
सुधा-पूर्ण वह प्रीति नहीं;
रीति नहीं अनरीति और यह
अति अनीति है, नीति नहीं॥

(62)

आत्मवंचना करती है तू
किस प्रतीति के धोखे से?
झाँक न झंझा के झोके में
झुक कर खुले झरोखे से!
शान्ति नहीं देगी तुझको यह
मृगतृष्णा करती है क्रान्ति,
सावधान हो, मैं पर नर हूँ,
छोड़ भावना की यह भ्रान्ति॥"

(63)

इसी समय पौ फटी पूर्व में,
पलटा प्रकृति-पटी का रंग;
किरण-कण्टकों से श्यामाम्बर
फटा, दिवा के दम के अंग।
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ
प्राची की अब भूषा थी,
पंचवटी की कुटी खोल कर
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी!

(64)

अहा! अम्बरस्था ऊषा भी
इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी,
अम्बर की-सी मूर्ति न थी।
वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़ कर,
गया चन्द्र पश्चिम की ओर;
लक्ष्मण के मुँह पर भी लज्जा
लेने लगी अपूर्व हिलोर ॥

(65)

चौंक पड़ी प्रमदा भी सहसा
देख सामने सीता को,
कुमुद्वती-सी दबी देख वह
उस पद्मिनी पुनीता को।
एक बार ऊषा की आभा
देखी उसने अम्बर में,
एक बार सीता की शोभा
देखी विगताडम्बर में ॥

(66)

एक बार अपने अंगों की
ओर दृष्टि उसने डाली,
उलझ गयी वह किन्तु,—बीच में
थी विभूषणों की जाली।
एक बार फिर वैदेही के
देखे अंग अदूषण वे,—
सनक्षत्र अरुणोदय ऐसे—
रखते थे शुभ भूषण वे ॥

(67)

हँसने लगे कुसुम कानन के
देख चित्र-सा एक महान,
विकस उठीं कलियाँ डालों में
निरख मैथिली की मुसकान।
कौन कौन से फूल खिले हैं,
उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके
जुड़ आयी भौंरों की भीर ॥

(68)

नाटक के इस नये दृश्य के
दर्शक थे द्विज लोग वहाँ,
करते थे शाखासनस्थ वे
समधुप रस का भोग वहाँ।
झट अभिनयारम्भ करने को
कोलाहल भी करते थे,
पंचवटी की रंग भूमि को
प्रिय भावों से भरते थे ॥

(69)

सीता ने भी उस रमणी को
देखा, लक्ष्मण को देखा;
फिर दोनों के बीच खींच दी
एक अपूर्व हास-रेखा।
"देवर, तुम कैसे निर्दय हो,
घर आये जन का अपमान।
किसके पर-नर तुम, उसके जो
चाहे तुमको प्राण-समान?

(70)

याचक को निराश करने में
हो सकती है लाचारी,
किन्तु नहीं आयी है आश्रय
लेने को यह सुकुमारी।
देने ही आयी है तुम को
निज सर्वस्व बिना संकोच,
देने में कार्पण्य तुम्हें हो
तो लेने में है क्या सोच?"

(71)

उनके अरुण चरण-पद्मों में
झुक लक्ष्मण ने किया प्रणाम,
आशीर्वाद दिया सीता ने—
"हों सब सफल तुम्हारे काम।"
और कहा—"सब बातें मैं ने
सुनी नहीं, तुम रखना याद;
कब से चलता है बोलो, यह
नूतन शुक-रम्भा-संवाद?"

(72)

बोलीं फिर उस बाला से वे
सुस्मित पूर्वक वैसे ही,
"अजी, खिन्न तुम न हो, हमारे
ये देवर हैं ऐसे ही।
घर में ब्याही बहू छोड़ कर
यहाँ भाग आये हैं ये,
इस वय में क्या कहूँ, कहाँ का
यह विराग लाये हैं ये!

(73)

किन्तु तुम्हारी इच्छा है तो
मैं भी इन्हें मनाऊँगी,
रहो यहाँ तुम अहो! तुम्हारा
वर मैं इन्हें बनाऊँगी।
पर तुम हो ऐश्वर्यशालिनी,
हम दरिद्र वन-वासी हैं,
स्वामी-दास स्वयं हैं हम निज,
स्वयं स्वामिनी-दासी हैं ॥

(74)

पर करना होगा न तुम्हें कुछ,
सभी काम कर लूँगी मैं;
परिवेषण तक मृदुल करों से
तुम्हें न करने दूँगी मैं।
हाँ, पालित पशु-पक्षी मेरे
तंग करें यदि तुम्हें कभी,
उन्हें क्षमा करना होगा तो,
कह रखती हूँ इसे अभी!"

(75)

रमणी बोली—"रहे तुम्हारा
मेरा रोम रोम सेवी,
कहीं देवरानी यदि अपनी
मुझे बना लो तुम देवी!"
सीता बोलीं—"वन में तुम-सी
एक बहन यदि पाऊँगी,
तो बातें करके ही तुम से
मैं कृतार्थ हो जाऊँगी ॥"

(76)

"इस भामा विषयक भाभी को
अविदित भाव नहीं मेरे,"
लक्ष्मण को सन्तोष यही था
फिर भी थे वे मुँह फेरे।
बोल उठे अब—"इन बातों में
क्या रक्खा है हे भाभी,
इस विनोद में नहीं दीखती
मुझे मोद की आभा भी ॥

(77)

"तो क्या मैं विनोद करती हूँ!"
बोलीं उनसे वैदेही,
"अपने लिए रूक्ष हो तुम क्यों
होकर भी भ्रातृ-स्नेही?
आज ऊर्मिला की चिन्ता यदि
तुम्हें चित्त में होती है,
कि 'वह विरहिणी बैठी मेरे
लिए निरन्तर रोती है'—॥

(78)

तो मैं कहती हूँ, वह मेरी
बहन न देगी तुमको दोष,
तुम्हें सुखी सुन कर पीछे भी
पावेगी सच्चा सन्तोष।
प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही
हम सब कुछ भर पाती हैं,
'वे सर्वस्व हमारे भी हैं'
यही ध्यान में लाती हैं ॥

(79)

जो वर-माला लिये, आप ही,
तुमको वरने आयी हो,
अपना तन, मन, धन सब तुमको
अर्पण करने आयी हो।
मज्जागत लज्जा तज कर भी
तिस पर करे स्वयं प्रस्ताव,
कर सकते हो तुम किस मन से
उससे भी ऐसा बर्ताव?"

(80)

मुसकाये लक्ष्मण, फिर बोले—
"किस मन से मैं कहूँ भला?
पहले मन भी तो हो मेरे
जिससे सुख-दुख सहूँ भला।"
"अच्छा ठहरो" कह सीता ने
करके ग्रीवा भंग अहा!
"अरे, अरे," न सुना लक्ष्मण का,
देख उटज की ओर कहा—

(81)

"आर्य्यपुत्र, उठकर तो देखो,
क्या ही सु-प्रभात है आज,
स्वयं सिद्धि-सी खड़ी द्वार पर
करके अनुज-बधू का साज!"
क्षण भर में देखी रमणी ने
एक श्यामशोभा बाँकी,
क्या शस्यश्यामल भूतल ने
दिखलाई निज नर-झाँकी!

(82)

किं वा उतर पड़ा अवनी पर
काम रूप कोई घन था,
एक अपूर्व ज्योति थीं जिसमें,
जीवन का गहरापन था!
देखा रमणी ने, चरणों में—
नत लक्ष्मण को उसने भेंट,—
अपने बड़े क्रोड़ में विधु-सा
छिपा लिया सब ओर समेट ॥

(83)

सीता बोलीं—"नाथ, निहारो
यह अवसर अनमोल नया,
देख तुम्हारे प्राणानुज का—
तप सुरेन्द्र भी डोल गया!
माना, इनके निकट नहीं है
इन्द्रासन की कुछ गिनती;
किन्तु अप्सरा की भी क्यों ये
सुनते नहीं नम्र विनती?

(84)

तुम सब का स्वभाव ऐसा ही
निश्चल और निराला है,
और नहीं तो आयी लक्ष्मी
कौन छोड़ने वाला है?
कुम्हला रही देख लो, कर में
स्वयंवरा की वरमाला,
किन्तु कण्ठ देवर ने अपना
मानों कुण्ठित कर डाला!"

(85)

मुसकाकर राघव ने पहले
देखा तनिक अनुज की ओर,
फिर रमणी की ओर देख कर
कहा अहा! ज्यों बोले मोर–
"शुभे, बताओ कि तुम कौन हो
और चाहती हो तुम क्या?"
छाती फूल गयी रमणी की,
क्या चन्दन है, कुंकुम क्या!

(86)

बोली वह–"पूछा तो तुमने–
'शुभे, चाहती हो तुम क्या'?
इन दशनों-अधरों के आगे
क्या मुक्ता हैं, विद्रुम क्या?
मैं हूँ कौन, वेश ही मेरा
देता इसका परिचय है,
और चाहती हूँ क्या, यह भी
प्रकट हो चुका निश्चय है ॥

(87)

जो कह दिया उसे कहने में
फिर मुझको संकोच नहीं,
अपने भावी जीवन का भी
जी में कोई सोच नहीं।
मन में कुछ, वचनों में कुछ हो,
मुझ में ऐसी बात नहीं;
सरल शक्ति मुझ में अमोघ है,
दाव, पेंच या घात नहीं ॥

(88)

मैं अपने ऊपर अपना ही
रखती हूँ अधिकार सदा,
जहाँ चाहती हूँ करती हूँ
मैं स्वच्छन्द विहार सदा।
कोई भय मैं नहीं मानती,
समय-विचार करूँगी क्या?
डरती हैं बाधाएँ मुझ से,
उनसे आप डरूँगी क्या?

(89)

अर्द्धयामिनी होने पर भी
इच्छा हो आयी मन में,
एकाकिनी घूमती-फिरती
आ निकली मैं इस वन में।
देखा आकर यहाँ तुम्हारे
प्राणानुज ये बैठे हैं,
मूर्ति बने इस उपल शिला पर
भाव-सिन्धु में पैठे हैं ॥

(90)

सत्य मुझे प्रेरित करता है,
कि मैं उसे प्रकटित कर दूँ,
इन्हें देख मन हुआ कि इनके
आगे मैं उसको धर दूँ।
वह मन जिसे अमर भी कोई
कभी क्षुब्ध कर सका नहीं,
कोई मोह, लोभ भी कोई
मुग्ध, लुब्ध कर सका नहीं!

(91)

इन्हें देखती हुई आड़ में
बड़ी देर मैं खड़ी रही,
क्या बतलाऊँ, किन हावों में,
किन भावों में पड़ी रही।
फिर मानों मन के सुमनों से
माला एक बना लाई,
इसके मिस अपने मानस की
भेंट इन्हें देने आई ॥

(92)

पर ये तो बस—"कहो, कौन तुम?"
करने लगे प्रश्न छूँछा,
यह भी नहीं—"चाहती हो क्या?"
जैसा अब तुम ने पूछा।
चाहे दोनों खरे रहें या
निकले दोनों ही खोटे,
बड़े सदैव बड़े होते हैं,
छोटे रहते हैं छोटे!

(93)

तुम सब का यह हास्य भले ही
करता हो मेरा उपहास,
किन्तु स्वानुभव, स्वविचारों पर
है मुझ को पूरा विश्वास।
तो अब सुनो, बड़े होने से
तुम में बड़ी बड़ाई है,
दृढ़ता भी है, मृदुता भी है,
इनमें एक कड़ाई है—॥

(94)

पहनो कान्त, तुम्हीं यह मेरी
जयमाला - सी वरमाला,
बनें अभी प्रासाद तुम्हारी
यह एकान्त पर्णशाला!
मुझे ग्रहण कर इस भामा के
भूल जायँगे ये भ्रू-भंग,
हेमकूट, कैलास आदि पर
सुख भोगोगे मेरे संग ॥"

(95)

मुसकाईं मिथिलेशनन्दिनी—
"प्रथम देवरानी, फिर सौत!
अंगीकृत है मुझे, किन्तु तुम
माँगो कहीं न मेरी मौत!
मुझे नित्य दर्शन भर इनके
तुम करती रहने देना,
कहते हैं इसको ही—अँगुली
पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना!"

(96)

रामानुज ने कहा कि "भाभी,
है यह बात अलीक नहीं—
औरों के झगड़े में पड़ना
कभी किसी को ठीक नहीं।
पंचायत करने आयी थीं
अब प्रपंच में क्यों न पड़ो,
वंचित ही होना पड़ता है
यदि औरों के लिए लड़ो!"

(97)

राघवेन्द्र रमणी से बोले—
"बिना कहे भी वह वाणी,
आकृति से ही प्रकृति तुम्हारी
प्रकटित है हे कल्याणी!
निश्चय अद्भुत गुण हैं तुम में,
फिर भी मैं यह कहता हूँ—
गृहत्याग करके भी वन में
सपत्नीक मैं रहता हूँ ॥

(98)

किन्तु विवाहित होकर भी यह
मेरा अनुज अकेला है,
मेरे लिए सभी स्वजनों की
कर आया अवहेला है।
इसके एकांगी स्वभाव पर
तुमने भी है ध्यान दिया,
तदपि इसे ही पहले अपने
प्रबल प्रेम का दान दिया ॥

(99)

एक अपूर्व चरित लेकर जो
उसको पूर्ण बनाते हैं,
वे ही आत्मनिष्ठ जन जग में
परम प्रतिष्ठा पाते हैं
यदि इसको अपने ऊपर तुम
प्रेमासक्त बना लोगी,
तो निज कथित गुणों की सब को
तुम सत्यता जना दोगी ॥

(100)

जो अन्धे होते हैं बहुधा
प्रज्ञाचक्षु कहाते हैं,
पर हम इस प्रेमान्ध बन्धु को
सब कुछ भूला पाते हैं!
इसके इसी प्रेम को यदि तुम
अपने वश में कर लोगी,
तो मैं हँसी नहीं करता हूँ,
तुम भी परम धन्य होगी ॥"

(101)

भेद-दृष्टि से फिर लक्ष्मण को
देखा स्वगुण-गर्जनी ने,
वर्जन किया किन्तु लक्ष्मण की
अधरस्थिता तर्जनी ने।
बोले वे—"बस, मौन कि मेरे
लिए हो चुकी मान्या तुम;
यों अनुरक्ता हुईं आर्य्य पर
जब अन्यान्य वदान्या तुम ॥"

(102)

प्रभु ने कहा कि "तब तो तुम को
दोनों ओर पड़े लाले
मेरी अनुज वधू पहले ही
बनी आप तुम हे बाले!"
हुई विचित्र दशा रमणी की
सुन यों एक एक की बात,
लगें नाव को ज्यों प्रवाह के
और पवन के भिन्नाघात!

(103)

कहा क्रुद्ध होकर तब उसने—
"तो अब मैं आशा छोड़ूँ?
जो सम्बन्ध जोड़ बैठी थी
उसे आप ही अब तोड़ूँ?
किन्तु भूल जाना न इसे तुम
मुझ में है ऐसी भी शक्ति,
कि झखमार कर करनी होगी
तुम को फिर मुझ पर अनुरक्ति!

(104)

मेरे भृकुटि-कटाक्ष-तुल्य भी
ठहरेंगे न तुम्हारे चाप",
बोले तब रघुराज—"तुम्हारा
ऐसा ही क्यों न हो प्रताप।
किन्तु प्राणियों के स्वभाव की
होती है ऐसी ही रीति,
पर-वशता हो सकती है पर
होती नहीं भीति में प्रीति॥"

(105)

इतना कह कर मौन हुए प्रभु
और तनिक गम्भीर हुए,
पर सौमित्रि न शान्त रह सके,
उन्मुख वे वर वीर हुए—
"और इसे तुम भी न भूलना,
तुम नारी होकर इतना—
अहंभाव जब रखती हो तब
रख सकते हैं नर कितना?"

(106)

झंकृत हुई विषम तारों की
तन्त्री-सी स्वतन्त्र नारी,—
"तो क्या अबलाएँ सदैव ही
अबलाएँ हैं—बेचारी?
नहीं जानते तुम कि देख कर
निष्फल अपना प्रेमाचार,
होती हैं अबलाएँ कितनी
प्रबलाएँ अपमान विचार!

(107)

पक्षपात मय सानुरोध है
जितना अटल प्रेम का बोध,
उतना ही बलवत्तर समझो
कामिनियों का वैर-विरोध।
होता है विरोध से भी कुछ
अधिक कराल हमारा क्रोध,
और, क्रोध से भी विशेष है
द्वेष-पूर्ण अपना प्रतिशोध ॥

(108)

देख क्यों न लो तुम, मैं जितनी
सुन्दर हूँ उतनी ही घोर,
दीख रही हूँ जितनी कोमल
हूँ उतनी ही कठिन-कठोर!"
सचमुच विस्मयपूर्वक सब ने
देखा निज समक्ष तत्काल—
वह अति रम्य रूप पल भर में
सहसा बना विकट-विकराल!

(109)

सब ने मृदु मारुत का दारुण
झंझा - नर्तन देखा था,
सन्ध्या के उपरान्त तमी का
विकृतावर्तन देखा था।
काल-कीट कृत वयस-कुसुम का
क्रम से कर्तन देखा था,
किन्तु किसी ने अकस्मात कब
यह परिवर्तन देखा था!

(110)

गोल कपोल पलट कर सहसा
बने भिड़ों के छत्तों-से,
हिलने लगे उष्ण साँसों से
ओंठ लपालप लत्तों-से!
कुन्दकली-से दाँत हो गये
बढ़ बराह की डाढ़ों-से,
विकृत, भयानक और रौद्र रस
प्रकटे पूरी बाढ़ों से!

(111)

जहाँ लाल साड़ी थी तनु में
बना चर्म का चीर वहाँ,
हुए अस्थियों के आभूषण
थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ!
कन्धों पर के बड़े बाल वे
बने अहो! आँतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी
हुई मुण्डमाला सुविशाल!

(112)

हो सकते थे दो द्रुमाद्रि ही
उसके दीर्घ शरीर-सखा,
देख नखों को ही जँचती थी
वह विलक्षणी शूर्पणखा!
भय-विस्मय से उसे जानकी
देख न तो हिल-डोल सकीं,
और न जड़ प्रतिमा-सी वे कुछ
रुद्ध कण्ठ से बोल सकीं ॥

(113)

अग्रज और अनुज दोनों ने,
तनिक परस्पर अवलोका,
प्रभु ने फिर सीता को रोका,
लक्ष्मण ने उसको टोका।
सीता सँभल गयीं जो देखी
रामचन्द्र की मृदु मुसकान,
शूर्पणखा से बोले लक्ष्मण
सावधान कर उसे सुजान—

(114)

"मायाविनि, उस रम्य रूप का
था क्या बस परिणाम यही?
इसी भाँति लोगों को छलना,
है क्या तेरा काम यही?
विकृत परन्तु प्रकृत परिचय से
डरा सकेगी तू न हमें,
अबला फिर भी अबला ही है,
हरा सकेगी तू न हमें ॥

(115)

बाह्य सृष्टि-सुन्दरता है क्या
भीतर से ऐसी ही हाय!
जो हो, समझ मुझे भी प्रस्तुत,
करता हूँ मैं वही उपाय।
कि तू न फिर छल सके किसी को,
मारूँ तो क्या, नारी जान;
विकलांगी ही तुझे करूँगा,
जिससे छिप न सके पहचान!"

(116)

यों कहकर लक्ष्मण ने क्षण में
लेकर शोणित तीक्ष्ण कृपाण,
नाक-कान काटे कुटिला के,
लिये न उसके पापी प्राण।
और कुरूपा होकर तब वह
रुधिर बहाती, बिललाती;
धूल उड़ाती आँधी ऐसी
भगी वहाँ से चिल्लाती!

(117)

गूँजा किया देर तक इसका
हाहाकार वहाँ फिर भी,
हुई उदास विदेहनन्दिनी
आतुर एवं अस्थिर भी।
होने लगी हृदय में उनके
वह आतंकमयी शंका,
मिट्टी में मिल गयी अन्त में
जिससे सोने की लंका!

(118)

"हुआ आज अपशकुन सबेरे,
कोई संकट पड़े न हा!
कुशल करे कर्तार" उन्होंने
लेकर एक उसाँस कहा।
लक्ष्मण ने समझाया उनको–
"आर्य्ये, तुम निशंक रहो,
इस अनुचर के रहते तुम को
किसका डर है, तुम्हीं कहो?

(119)

नहीं विघ्न-बाधाओं को हम
स्वयं बुलाने जाते हैं,
फिर भी वे यदि आ जावें तो
कभी नहीं घबराते हैं।
मेरे मत में तो विपदाएँ
हैं प्राकृतिक परीक्षाएँ,
उनसे वही डरें, कच्ची हों
जिनकी शिक्षा-दीक्षाएँ ॥"

(120)

कहा राम ने कि "यह सत्य है
सुख, दुख सब हैं समयाधीन,
सुख में कभी न गर्वित होवे
और न दुख में होवे दीन।
जब तक संकट आप न आवें
तब तक उनसे डर मानें,
जब वे आ जावें तब उनसे
डट कर शूर-समर ठानें"

(121)

"यदि संकट ऐसे हों जिनको
तुम्हें बचाकर मैं झेलूँ,
तो मेरी भी यह इच्छा है
एक बार उनसे खेलूँ।
देखूँ तो, कितने विघ्नों की
वहन शक्ति रखता हूँ मैं,
कुछ निश्चय कर सकूँ कि कितनी
सहनशक्ति रखता हूँ मैं ॥"

(122)

"नहीं जानता मैं, सहने को
अब क्या है अवशेष रहा;
कोई कह न सकेगा, जितना
तुमने मेरे लिए सहा।"
"आर्य्य, तुम्हारे इस किंकर को
कठिन नहीं कुछ भी सहना,
असहनशील बना देता है
किन्तु तुम्हारा यह कहना ॥"

(123)

सीता कहने लगीं कि "ठहरो,
रहने दो इन बातों को,
इच्छा तुम न करो सहने की
आप आपदाघातों को।
नहीं चाहिए हमें विभव, बल,
अब न किसी को डाह रहे,
बस, अपनी जीवन-धारा का
यों ही निभृत प्रवाह बहे ॥

(124)

हमने छोड़ा नहीं राज्य क्या,
छोड़ा नहीं राज्य-निधि क्या?
सह न सकेगा कहो, हमारी
इतनी सुविधा भी विधि क्या?"
"विधि की बात बड़ों से पूछो,
वे ही उसे मानते हैं;
मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूँ,
इसको सभी जानते हैं ॥"

(125)

यह कहकर लक्ष्मण मुसकाये,
रामचन्द्र भी मुसकाये;
सीता मुसकाईं, विनोद के
पुनः प्रमोद भाव छाये।
"रहो, रहो, पुरुषार्थ यही है,–
पत्नी तक न साथ लाये;"
कहते कहते वैदेही के
नेत्र प्रेम से भर आये ॥

(126)

"चलो नदी को, घड़े उठा लो,
करो और पुरुषार्थ क्षमा,
मैं मछलियाँ चुगाने को कुछ
ले चलती हूँ धान, समा।"
घड़े उठाकर खड़े हो गये
तत्क्षण लक्ष्मण गद्गद-से,
बोल उठे मानों प्रमत्त हो
राघव महा मोदमद से–

(127)

"तनिक देर ठहरो, मैं देखूँ
तुम देवर-भाभी की ओर,
शीतल करूँ हृदय यह अपना
पाकर दुर्लभ हर्ष हिलोर।"
यह कहकर प्रभु ने, दोनों पर,
पुलकित होकर, सुध बुध भूल,
उन दोनों के ही पौधों के
बरसाये नव विकसित फूल!

हिन्दू

श्रीः

भूमिका

क्रम विकास के अनुसार उन्नति करता हुआ कवित्व आज कल स्वर्गीय हो उठा है। अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए वह जो विचित्र चाप चढ़ाने जा रहा है, हमें भी कभी-कभी, मेघों के कन्धों पर चढ़ कर, वह अपनी झाँकी दिखा जाता है। उसे उठाने के लिए जिस सूक्ष्मता अथच विशालता अथवा स्वर्गीयता की आवश्यकता होगी, कहते हैं, कवित्व उसी की साधना में लगा हुआ है। हम हृदय से उसकी सफलता चाहते हैं।

उसका लक्ष्य क्या है? हमें जब वही नहीं दिखाई देता तब उसके लक्ष्य की चर्चा ही क्या?—

सम्मुख चन्द्र-चकोर है
सम्मुख मेघ-मयूर,
वह इतना ऊँचा उठा
गया दृष्टि से दूर!

परन्तु सुनते हैं, वह लक्ष्य है—'सुन्दरम्' और केवल 'सुन्दरम्'। 'सत्यम्' और 'शिवम्' उसके पहले की बातें हैं! कवित्व के लिए अलग से उनकी साधना करने की आवश्यकता नहीं, औरों के लिए हो तो हो? फूल में ही तो मूल के रस की परिणति है, फल तो उपलक्ष्य मात्र है।

कला में उपयोगिता के पक्षपातियों से कहा जाता है कि सच्चे सौन्दर्य का विकास होने पर अशोभन के लिए अवकाश ही नहीं रहता, उसकी अनुभूति से मन में जो आनन्द की उत्पत्ति होती है उसमें विकार कहाँ? अपवाद तो सभी विषयों में पाये जाते हैं परन्तु फूलों में स्वभावतः सुगन्धि ही होती है, दुर्गन्धि नहीं। ठीक है। परन्तु सब 'फूल सूँघकर' ही नहीं रह सकते और यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिए

कि कहीं फूलों में तक्षक नाग तो नहीं छिपा बैठा है। अनन्त सौन्दर्य के आधार श्रीराधाकृष्ण की सौन्दर्य-सुमन-राशि में भी जब हमारे प्रमाद से, उसका प्रवेश सम्भव हो गया तब औरों की बात ही क्या?

फूल उठ आनन्द से हे फूल,
निज नवल दल-दोल पर तू झूल,
धन्य मंगल मूल तेरा मूल,
तदपि फल की बात भी मत भूल।
चढ़ सुरों पर तू उन्हीं के योग्य;
किन्तु भव में फल सकल-जन-भोग्य।

कवित्व फिर भी निष्काम है। सम्भवतः वह स्वयं एक सुफल है, इसी से उसे किसी फल की अपेक्षा नहीं। निस्सन्देह बड़ी ऊँची भावना है। भगवान से प्रार्थना है कि वह हम लोगों को भी इतना ऊँचा कर दे कि हम भी उसका अनुभव कर सकें। कदाचित् इसी भावना ने कवित्व को स्वर्गीय होने में सहायता दी है। परमार्थ के पीछे उसने स्वार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया है। इसीलिए वह न तो देश से आबद्ध है न काल से। सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गया है। लेखक उसके ऊपर अपने आपको निछावर कर सकता है। परन्तु वह आकाश में है और यह पृथ्वी पर! ऐसी दशा में उसे भक्ति भाव से प्रणाम करके ही सन्तोष करना पड़ेगा।

कवित्व की यह उदारता अथवा सार्वभौमिकता बड़ी ही प्यारी लगती है। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' अपनी ही तो बात है। परन्तु हाय!

व्यर्थ विश्वमैत्री की बात,
आज दीन-दुर्बल तुम तात!
यह औदार्य नहीं, उपहास!!
तुम्हें जानते हैं सब दास!!!

जो हो, हमें कवित्व की क्षमता पर विश्वास है। आज भी वह निराकारों को आकार और निर्जीवों को जीवन दान कर रहा है। 'सुन्दरम्' की प्राप्ति के लिए वह नये-नये पन्थों का, नयी-नयी गतियों का, अथवा नये-नये छन्दों का आविष्कार कर रहा है। हम तो उसके साधन पर ही मुग्ध हो गये, साध्य न जाने कैसा होगा? परन्तु सुना है कि उसका निर्माण निष्काम है। जो हो, और तो सब ठीक है, परन्तु एक कठिनाई है। वह यह कि सार्वदेशिक होने पर भी वह एक देसीय रसिकों के ही उपभोग के योग्य रहा जाता है।

एक बात और है। सोने का पानी चढ़ा देने से ही सब पदार्थ सोने के नहीं हो जाते। कभी-कभी उनकी चमक दमक असल से भी कुछ अधिक दिखाई देती है।

परन्तु 'निर्घर्षणच्छेदन ताप ताडनैः'' उनकी परीक्षा कर लेनी चाहिए। लेखक के लिए तो वह अवश्य ही कोई बड़ी बात होगी जो उसकी समझ में नहीं आती!

उसके रसिकों में भी तो स्वर्गीय भावुकता अथवा मार्मिकता होनी चाहिए। इस संसार में वह दुर्लभ है। एक बाधा के साथ दूसरी चिन्ता लगी हुई है। भव की भावना के अनुसार स्वर्ग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के सुने जाते हैं। सौन्दर्य के आदर्श अलग-अलग हैं। अपने घर में ही देखिए न। एक महानुभाव को खद्दर में कुरूपता दिखाई देती है। कला की कुशलता का अभाव तो स्पष्ट ही है। उधर दूसरे महापुरुष को उसमें भूखों का भोजन और रुग्णों का आरोग्य दिखाई देता है। जीवन की सरलता का कहना ही क्या? यदि सौन्दर्य स्वयं एक बड़ा भारी गुण है तो गुण भी स्वयं एक बड़ा भारी सौन्दर्य है! हमारे लिए ये दोनों ही वदान्य और मान्य हैं। एक महाकवि है और दूसरा महात्मा।

इस यन्त्रों के युग में 'हाथकते' और 'हाथबुने' में सचमुच सौन्दर्य दुर्लभ है। जहाँ है भी वहाँ वह बहुत महँगा पड़ता है फिर सर्वसाधारण का शौक कैसे पूरा हो? शौक रहने दीजिए, पहले सर्वसाधारण की क्षुधा-निवृत्ति और सज्जा की रक्षा तो हो जाय। इन यन्त्रों ने ही तो इतनी विषमता फैलाई है। सम्भवतः इसीलिए मनु ने—'महायन्त्रप्रवर्तनम्'—बड़े यन्त्रों के प्रचार को एक प्रकार का पाप बताया है।

तथापि वह पाप उत्पन्न हो ही गया और संसार में फैल भी गया। वहाँ कलयुग के पहले ही से फैला हुआ है। ऐसी दशा में 'स्वदेशी' को छोड़कर कौन सी गति है? परन्तु स्वदेशी से कवित्व की विश्वभावना जो भंग हो जाती है! राम राम! फिर भी वही संकीर्णता!

कवित्व ही इसका उपाय सोचेगा। संसार के सम्मिलित स्वर्ग की कल्पना का भार भी उसी पर छोड़ देना चाहिए। वही हमें विश्व के सौन्दर्य-स्वर्ग का अनुभव करा सकता है। क्योंकि वह हमें लोकोत्तर आनन्द देता रहा है।

परन्तु हम अपना भय प्रकट कर देना उचित समझते हैं। स्वर्ग की वह भावना ऐसी न हो कि संसार अचल हो जाय। विशेष कर जब तक संसार संसार है।

महाभारतीय युद्ध के समय, कुरुक्षेत्र में अर्जुन को जो करुणा और ममता उत्पन्न हुई थी वह भी एक स्वर्ग की भावना थी। ईश्वर न करे कि कभी फिर कोई महाभारत का सा प्रसंग उठ खड़ा हो। परन्तु संसार में इससे भी बड़ा महाभारत हो चुका है। इसलिए ऐसे प्रसंग पर अर्जुन का मोह देखकर, सौन्दर्य-लोभी कवित्व उससे—

विषम वेला में तुझको, ओह!
कहाँ से उपजा यह व्यामोह?

कहने के बदले कहीं स्वयं मोह से ही यह न कह उठे कि—

कहाँ ओ कम्पित पुलकित मोह?
अरे हट, किन्तु ठहर जा ओह!
देख लूँ क्षण भर तेरा रूप,
सगद्गद रोम रोम रसकूप

अर्जुन की वह ममता स्वर्गीय थी तो वह सहृदयता, मार्मिकता अथवा सौन्दर्योपासना भी स्वर्गीय है! अर्जुन की ममता, करुणा अथवा उदारता स्वर्गीय न होती तो वह कैसे अपने राज्य हरने—और उससे भी अधिक अपनी पत्नी पांचाली का अपमान करनेवालों को अयाचित क्षमाप्रदान करने को तैयार हो जाता। उसने तो यहाँ तक कह दिया था कि—

मुझ निरस्त्र को अस्त्र समेत,
करूँ न मैं उनका प्रतिकार,
मारें धार्तराष्ट्र समवेत।
तो मेरा कल्याण अपार!

बौद्धों की क्षमा भी इसी प्रकार की थी। जातकों में हमें ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि महानुभावों ने दारापहारी आततायियों को भी क्षमा कर दिया है। ईश्वरात्मज प्रभु यीशु भी हमें स्वर्ग का सन्देश सुना गये हैं कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुरन्त दूसरा गाल उसके सामने कर दो। परन्तु उनके अनुयायियों ने ही सर्वापेक्षा इसकी उपेक्षा की है। स्वयं भगवान परस्वापहारियों के प्रति अर्जुन के इस भाव को 'अस्वर्ग्य' समझते हैं—

न इसमें स्वर्ग न कीर्त्ति न मान,
अनार्योचित है यह अज्ञान।

दुष्ट और दस्युओं को भगवान कभी क्षमा नहीं कर सकते।

"जो नहिं करों दण्ड खल तोरा,
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।"

क्योंकि—

"धर्म संरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शांगिण।"

शार्ङ्गधर धर्म की रक्षा के लिए ही धरती पर अवतीर्ण होते हैं। किसी समय वे आयुध न भी धारण करें परन्तु अपना काम करते रहते हैं। सव्यसाची तो निमित्त मात्र है—

"निमित्त मात्रम् भव सव्यसाचिन्"

सो पाठक, कवित्व भले ही स्वर्गीय होकर स्वर्ग के सौन्दर्य का आनन्द लूटे, परन्तु जब तक यह संसार स्वर्ग नहीं हो जाता तब तक हम सांसारिक ही रहेंगे। चाहते तो हम भी वही हैं पर हमारे चाहने से ही क्या होगा?

नर चेती नहिं होत है,
प्रभु चेती तत्काल।
बलि चाह्यो आकाश को,
हरि पठयो पाताल ॥

कौन नहीं जानता कि कलह किंवा युद्ध अतीव अनर्थकारी है। परन्तु जब तक यह जीवन सन्धि के बदले संग्राम बना हुआ है तब तक इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि–

"क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ठ परन्तप!"

हमने 'अहिंसा परमोधर्मः' धारण करके अपनी दिग्विजय से हाथ खींच लिये; परन्तु दूसरों ने हम पर आक्रमण करना न छोड़ा। हम किसी की हिंसा नहीं करना चाहते; परन्तु हमारी भी तो कोई हत्या न करे। तथापि हुआ यही। हमारी अतिरिक्त करुणा ने हमें दूसरों के समक्ष दुर्बल बना दिया। हमने हथियार रखकर उठने बैठने का स्थान धीरे से झाड़ देने के लिए एक प्रकार की मृदुल मार्जनी धारण कर ली, जिसमें कोई जीव हमारे नीचे न दब जाय; परन्तु दूसरों ने हथियार न रखे और स्वयं हमीं दबा लिये गये। हमारी गोरक्षा की अति ने विपक्षियों की सेना के सामने गायों को खड़ा देखकर शस्त्र-सन्धान करना स्वीकार न किया परन्तु इससे न गायों की रक्षा हुई और न हमारी जो उसके रक्षक थे। विधर्मियों ने गाँव के एकमात्र कुएँ में थूक दिया, बस वह गाँव ही अहिन्दू हो गया!

ऐसी अवस्था में कवित्व हमें क्या उपदेश देगा? उपदेश देना उसका काम नहीं। न सही; परन्तु आपत्तिकाल में मर्यादा का विचार नहीं रहता। और क्या सचमुच कवित्व उपदेश नहीं देता?

भोजन का उद्देश–क्षुधा निवृत्ति और शरीर पोषण है। उससे रसना का आनन्द भी मिलता है। परन्तु हमारी रसना लोलुपता इतनी बढ़ गयी है कि हम भोजन में बहुधा उसी का ध्यान रखते हैं। फल उलटा होता है। शरीर का पोषण न होकर उलटा उसका शोषण होता है। क्योंकि पथ्य प्रायः रुचिकर नहीं होता। शरीर के समान ही मन की भी दशा समझिए। मन महाराज तो पथ्य की ओर दृष्टि भी नहीं डालना चाहते। लाख उपदेश दीजिए, जब तक पथ्य मधुर किंवा रुचिकर नहीं होता तब तक

वे उसे छूने के नहीं। कवित्व ही उनके पथ्य को मधुर बना कर परोस सकता है।

काम्य-कुसुम कलिका देकर ही
कला-केतकी है कृतकार्य,
किन्तु कवित्व-रसाल, सुफल की
आशा है तुझसे अनिवार्य।

परन्तु हमारे कवित्व का ध्यान इस समय दूसरी ओर चला गया है। इस संसार को छोड़कर वह स्वर्ग की सीमा में प्रवेश कर रहा है। क्या अच्छा होता कि वह हमें भी साथ लेकर चलता! परन्तु हमारा उतना पुण्य नहीं। कवित्व इन्द्रधनुष लेकर अपना लक्ष्य भेदन कर सकता है। परन्तु हम पार्थिव प्राणियों को पार्थिव साधनों का ही सहारा लेना पड़ेगा, और इसके लिए न तो किसी दूसरे पर ईर्ष्या करना पड़ेगी न अपने ऊपर घृणा। जो साधन भगवान ने दया करके हमें प्रदान किये हैं उन्हीं को बहुत समझकर स्वीकार करना होगा। परन्तु लज्जा तो यही है कि हम उन्हीं का यथोचित उपयोग नहीं कर सकते।

कवित्व स्वच्छन्दतापूर्वक स्वर्ग के छाया पथ पर आनन्द से गुनगुनाता हुआ विचरण करे अथवा वह स्वर्गंगा के निर्मल प्रवाह में निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापों का प्रक्षालन करे। लेखक उसे आयत्त करने की चेष्टा नहीं करता। उसकी तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति गंगा में ही एक डुबकी लगाकर 'हरगंगा' गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य हो जायगा। कहीं उसमें कुछ बातों का उल्लेख भी हो जाय तो फिर कहना ही क्या? जो लोग बलपूर्वक, ठोक-पीट कर कविराज बनाने के समान उसे कवियों की श्रेणी में खींचकर उसी भाव से उसका विचार करते हैं वे उस पर दया तो करते हैं परन्तु न्याय नहीं करते। वह स्वर्गीय कवित्व की साधना का अधिकारी नहीं। होता तो कदाचित् यह लिखने न बैठता कि—

छुँरे काटते हैं जो नार
होते हैं बहुधा सविकार।

प्रत्युत् स्वर्गलोक में, बधिर श्रवणों से किसी अनजान का, नीरव गान अथवा मूक आह्वान सुना अनसुना करके चिल्ला उठता—

गूँज उठा तेरा अनजान,
स्वप्न लोक में नीरव गान!

हाय! लेखक कहीं जन साधारण का ही कवि हो सकता! परन्तु प्रतिभा देवी का वह प्रसाद भी प्राप्त न हो सका। वृत्त छोटा और विषय बड़ा कुछ उल्लेख अथवा

संकेत और अर्थ-गौरव का भी लोभ!

वहाँ सरलता है कहाँ,
जहाँ अर्थ का लोभ।
छन्दों को भी कर सका
क्षमा न उसका क्षोभ!

परन्तु यह तो बचत करने के लिए एक बहाना है। मुख्य कारण तो लेखक की असमर्थता ही है, इसे वह निस्संकोच भाव से स्वीकार करता है।

कवित्व के उपासकों से उसकी ही प्रार्थना है कि वे उसकी सीमा इतनी संकुचित न कर दें कि नवीन दृष्टि से विचार करने पर पुरानी रचनाएँ तुकबन्दियों के सिवा और कुछ न रह जायँ।

यदि हम किसी निबन्ध की एक-एक पंक्ति में रस की खोज करने लगेंगे, तो काव्यों की तो बात ही क्या महाकाव्यों को भी अपना स्थान छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। एक-एक पत्ते में फूल खोजने की चेष्टा व्यर्थ होगी और ऐसे फूलों का कोई मूल्य भी न रह जायगा। फूल के साथ पत्ती भी रहती ही है और सच पूछिए तो पत्तियों के बीच में ही वह 'खिलता' है।

शरीर की उपेक्षा करके हम आत्मा की अपेक्षा नहीं कर सकते। शरीर में ही हमें उसके दर्शन हो सकते हैं।

कवित्व से उसे इतना ही कहना है कि ऊपर केवल स्वर्गंगा और स्वर्ग ही नहीं वैतरणी और नरक भी हैं! स्वर्ग और नरक उलटे होकर भी 36 के अंकों के समान पास ही पास रहते हैं, अतएव सावधान! अपने रूप को न भूलना। तुम स्वयं असाधारण हो–

केवल भाव मयी कला,
ध्वनिमय है संगीत;
भाव और ध्वनि मय उभय,
जय कवित्व नय-नीत।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में एक बात और। इस तरह की तुकबन्दियों के लिए साहित्य के शारदा मन्दिर में कोई स्थान है या नहीं? वह हो या न हो, परन्तु इनका एक आदर्श होना ही चाहिए। न तो इनमें आख्यान मूलक रामायण आदि महाकाव्यों का अनुकरण है और न बिहारी सतसई आदि कोष-काव्यों का। 'हमीर-हठ' ऐसे खण्ड काव्य और 'कविप्रिया' एवं 'काव्य निर्णय' आदि रीति ग्रन्थों की श्रेणी में भी ये नहीं रक्खी जा सकती। विनयपत्रिका आदि का भी एक स्वतन्त्र स्थान है। सारांश, काव्यों की पंक्ति में बैठने का इन्हें कोई अधिकार नहीं। न सही, परन्तु, जैसा

ऊपर कहा जा चुका है इनका भी एक आदर्श होना चाहिए। क्या वह आदर्श 'श्रीमद्भगवद्गीता' हो सकता है? छोटे मुँह बड़ी बात! विद्वज्जन क्षमा करें; उन्हीं का कहना है कि आदर्श उत्कृष्ट ही रखना चाहिए। लेखक के लिए तो यही अवलम्ब है—

जय देव-मन्दिर-देहली,
सम भाव से जिस पर चढ़ी—
नृप हेम मुद्रा और रंकवराटिका

अन्त में—

मुनिसत्य-साँचे में ढली,
कवि-कल्पना जिसमें बढ़ी,
फूले फले साहित्य की वह वाटिका

नवरात्र
1984

—श्रीमैथिलीशरण गुप्त

सिद्ध गणेश करो हे हिन्दू,
शक्ति साधना शिव की प्राप्ति;
जागो तुम पौरस्य सौर शुचि,
तुम में पुरषोत्तम की व्याप्ति।
बुद्ध वीर आदर्श तुम्हारे,
निर्भय हो गुरु की जय बोल;
आर्य, ब्राह्म पद के अधिकारी
करो सहज निज कार्य समाप्ति।

श्रीगणेशाय नमः

हिन्दू

विस्मृति

श्री श्रीरामकृष्ण के भक्त
रह सकते हैं कभी अशक्त?
दुर्बल हो तुम क्यों हे तात!
उठो हिन्दुओ, हुआ प्रभात
हे हिन्दू, तुम हो क्यों हीन?
क्यों हो दलित[1], दुखी, अति दीन?
क्यों तुम हो यों आज हताश?
क्यों यह पराधीनता-पाश[2]?
होकर ऋषियों की सन्तान
सहते हो तुम क्यों अपमान?
अपने को भूले हो आप,
पाते हो सौ सौ सन्ताप।

अभाव

वह यश, वह प्रताप, वह तेज,

1. दलित—पीड़ित, खण्डित, अछूत। 2. पाश—फाँसी।

सजग शान्तिमय सुख की सेज,
वह निर्भय निश्चय, वह त्याग,
वह संयम, वह विषय-विराग,
वह अलिप्त भोगों का भोग,
अनालस्य, अविचल उद्योग,
वह जीवन का सुखमय स्वर्ग,
और मृत्यु में भी अपवर्ग[1],
वह शिक्षा, दीक्षा, संस्कार,
सत्य, सरल, निश्छल व्यवहार,
निष्ठा, नीति, प्रतिष्ठा, प्रीति
स्वकुल-रीत, वह अतुल अभीति,
वह अनुशीलन, वह अभ्यास,
वह एकान्त आत्म-विश्वास,
ब्रह्मचर्य, विद्या-व्यासंग[2],
स्वस्थ शरीर, संगठित[3] अंग,
वह सत्ता, वह साहस, शौर्य,
किन्तु साथ ही वह अक्रौर्य[4],
विविध विजय-सूचक मख-मेध[5],
एक लक्ष्य का बहु विध बेध,
वह गौरव, वह मान-महत्व,
वह अमरत्व तत्व मय सत्व[6],
सबके ऊपर चारु चरित्र,—
पवित्रता का जीवित चित्र;
वह साधन, वह अध्यवसाय[7],
नहीं रहा हममें अब हाय!
इसी लिए अपना यह ह्रास[8]—
चारों ओर त्रास ही त्रास।

---

1. अपवर्ग—मोक्ष। 2. व्यासंग—आसक्ति। 3. संगठित (संघटित)। 4. अक्रौर्य—अक्रूरता। 5. मखमेध-याग, यज्ञ। 6. सत्व—प्राण, शक्ति, उद्यम, गुण। 7. अध्यवसाय—अविचल उद्योग और उत्साह। 8. ह्रास—क्षय, न्यूनता।

स्मृति

याद करो अपने को आर्य!
सत्य करो सपने को आर्य!
तापों से अब तपो न और,
जीवन-मन्त्र जपो सब ठौर।
तुम हो सबसे पहले सभ्य,
जिन्हें न कुछ भी रहा अलभ्य।
तुम हो उनके ही कुलशील
जो थे सर्व समर्थ सलील[1]।
तुम हो उनकी ही सन्तान
बनें कि जिनसे विश्व-विधान।
खोजे गूढ़ जिन्होंने तत्व,
पाया है उज्ज्वल अमरत्व।
तुम हो उनके ही कुलजात[2]
कि जो हुए ऋषि-मुनि विख्यात।
जिनका त्याग और तप देख
बदली स्वयं कर्म की रेख।
डोल उठा इन्द्रासन आप,
वज्राधिक था जिनका शाप!
रचे जिन्होंने तीर्थ अनेक,
जिनके बिना न हो अभिषेक।
उत्तराधिकारी तुम लोग
उनके हो जिनके उद्योग
सफल हुए सब ओर सदैव,—
अनुगत-सा था जिनका दैव।
किसके पूर्वज थे वे लोग
किये जिन्होंने अद्भुत योग?
दिये दिव्य सन्देश उदार
जाग उठा जिनसे संसार?
तुममें हैं उनके ही प्राण
जिनके करगत थे कल्याण।

---

1. सलील—लीला सहित। 2. कुलजात—कुल में उत्पन्न।

देख सकी उनकी ही दृष्टि—
'ब्रह्ममयी है सारी सृष्टि।'
वे थे ऐसे योग्य उदार
था कुटुम्ब उनका संसार।
जगती की सुख-शान्ति समृद्धि
और उन्होंने की शुभ वृद्धि।
व्यापक थे उनके व्यवहार,
सीमाबद्ध न था विस्तार।
कह सकते थे वही अगर्व—
'वाराणसी मेदिनी सर्व[1]।'
साधन था उनका पुरुषार्थ,
और सिद्धि थी मुक्ति यथार्थ।
करते थे वे नियम-निदेश,
पलवाते थे जिन्हें नरेश।

शौर्य-वीर्य

तुममें है उनका ही रक्त
जो थे सच्चे शूर सशक्त।
जिनका बल-विक्रम-उत्साह
था अथाह ज्यों महाप्रवाह।
होकर असुरों से आक्रान्त[2]
सुर जब हो जाते थे श्रान्त,
तब रण में दैत्यों का गर्व?
कौन किया करता था खर्व?
चन्द्र-सूर्य का यशः-प्रताप
रखते थे उनके कुल आप
वे कुल अब भी नहीं विलुप्त,
किन्तु रहेंगे कब तक सुप्त?

---

1. अर्थात्—पृथ्वी भर काशी है। 2. आक्रान्त—जिस पर आक्रमण किया गया हो।

मान्धाता के युग की बात
नहीं आज भी है अज्ञात;
था तब भी वह राज्य प्रशस्त—
सूर्य न हो सकता था अस्त।
किसने किये विश्वजित याग?
और विश्व-विभवों के त्याग?
राजसूर्य, हय-मेध महान
थे किसके वीरत्व विधान?
तोड़ा किसने राक्षस-राज्य—
जो था अचल, अटल, अविभाज्य[1]?
उड़ी हेम-लंका की धूल,
तुम हो वही, न जाओ भूल।
वीरोचित बाणों की सेज!
किसने दिखलाया यह तेज?
उस पर तकिया अनी यथार्थ
विषय वहाँ भी था परमार्थ!
दृश्य भीष्म-सुन्दर यह और
देखा गया कहीं किस ठौर?
प्राप्त करो वह पानी आर्य,
कि हो पितामह-तर्पण-कार्य।
याद करो निज वीर्य विलुप्त;
कहो कौन थे मौर्य कि गुप्त?
थे जिनके साम्राज्य विशाल,
स्वस्थ, व्यवस्थित, मालामाल।
था वह किन घावों का दाह
जिससे जला सिकन्दर शाह?
पूरी हुई न मन की चाह,
ली घर की—यमपुर की—राह!
चढ़ कर आया था यूनान,
लौट गया कर कन्या-दान!
बाँध आर्य-विक्रम का तूण[2]
तुमने ही जीते शक-हूण।

---

1. अविभाज्य—जो विभक्त न किया जा सके, अखण्ड। 2. तूण—तरकस।

किसका था वह पुण्य प्रताप[1]
चौंका जिससे अकबर आप?
करके सब कुछ भी बलिदान
रक्खी स्वतन्त्रता की बान।
महाराष्ट्र - संस्थापन - कार्य।
किया तुम्हीं ने कल था आर्य!
'हर हर महादेव' का घोष
असन्तोष का था सन्तोष।

प्रभाव

भू-मण्डल भर में अनिवार्य
बजा तुम्हारा डंका आर्य!
अपने धर्म-राज्य का छत्र
छाया करता था सर्वत्र।
गंगा-तट का पूजा-पाठ,
यज्ञ-याग, उत्सव का ठाठ,
दूर नील-नद[2] के भी तीर
करता था निज ध्वनि गम्भीर!
सीतारामोत्सव का हर्ष
रखता था ज्यों भारतवर्ष,
अमरीका भी स्वयं सगर्व
कभी मनाता था वह पर्व!
जहाँ रहे तुम, भारत-तुल्य,
बढ़ा धर्म-वैभव बाहुल्य।
बनें उच्च मन्दिर - प्रासाद,
गूँजा दुन्दभि - शंख - निनाद।

---

1. प्रताप—प्रताप और महाराना प्रताप सिंह। 2. नील नद—मिस्र देश की एक नदी।

सन्देश

प्राण-प्रतिष्ठा-सी सब ओर
की तुमने इससे उस छोर।
करके जगती का आह्वान
गाया अनुपम वैदिक गान।
देकर सबको प्रथम प्रकाश
किया सभ्यता का सुविकाश।
सुना सुना कर शास्त्र-पुराण
किया सदा सबका कल्याण।
उस विभु से जो सबमें व्याप्त
की तुमने तन्मयता प्राप्त।
सुना सृष्टि ने सोहं नाद
सर्वोपरि सच्चा संवाद।
विश्व-बन्धुता का बर्ताव,
और परम करुणा का भाव,
फैलाया तुमने सब ओर;
बढ़ा विश्व धन-धर्म बटोर।

आक्रमण

तुम बौद्धों के नीति-निदेश
रहे मानते देश, विदेश।
किन्तु हाय! स्वार्थी संसार
कब तक रहता उच्च उदार?
जो अध्यात्म भाव-भिक्षार्थ,
आते रहे यहाँ शिक्षार्थ
वही राज्य करने के हेतु
उदित हुए ज्यों कुग्रह केतु!

चीन, हूण, शक, जावक, लुब्ध[1],
रोमज, खुरज, तैत्तरिक, क्षुब्ध,
मिल मिलकर आक्रमण यथेच्छ
करने लगे कृतघ्न कि म्लेच्छ।
मिलती उन्हें जहाँ विश्रान्ति
करने लगे वहीं वे क्रान्ति।
किन्तु न थे हिन्दू, तुम हीन,
संवत् साके चले नवीन।
पड़े हुए अस्त्रों की जंक
पाकर अरि-मज्जा अकलंक
छूटी, प्रकटित हुआ प्रताप,
रहा तुम्हारा पानी आप।
होने लगा पुनः जय-गान,
देवस्थापन, यज्ञ - विधान।
जन जन में वैदिक-बल-वृद्धि,
घर घर में सुख, शान्ति, समृद्धि।
कहाँ आज वे शक, वे हूण,
बनते थे जो विजयस्थूण[2]?
किन्तु बने हैं अब भी आर्य
और शेष हैं उनके कार्य।
है स्वर्गीय अहिंसा शुद्ध,
किन्तु जगत है शुद्ध न बुद्ध।
वह है जीवन-युद्धक्षेत्र,
लचो, किन्तु बनकर दृढ़ वेत्र।

विदेश-यात्रा

हुआ एक सीमा विस्तार,
जिसे शत्रुजन करें न पार।

---

1. लुब्ध—लोभी। 2. स्थूण—लोहे का खम्भा।

जो आँखें रखते थे अन्ध,
रहे न उनसे कुछ सम्बन्ध।
तुमने देश, काल अवलोक
की विदेश-यात्रा की रोक।
किन्तु हुई आगे यह चूक
हम हो गये कूप-मण्डूक!
नित्य और नैमित्तिक कर्म
रखते नहीं एक ही मर्म।
रक्खो अवसर के अनुसार
अपने साधारण व्यवहार।

धर्म-प्रचार

समझ लोभ को मन से त्याज्य[1],
धन का नहीं, धर्म का राज्य,
भू पर यत्र तत्र सर्वत्र
किया तुम्हीं ने एकच्छत्र।
तप कर कर पाये जो तत्त्व,
सुख के और शान्ति के सत्त्व,
फैलाये तुमने सब ओर;
पाया जिधर जहाँ तक छोर।
प्रिय था तुमको धर्म-प्रचार,
किन्तु नहीं लेकर हथियार।
उठते थे जब अपने हाथ,
अभयाश्वासन के ही साथ।
अपनी आध्यात्मिक अनुभूति
करती रहो यही आहूति[2]—
"यहाँ न दुःख न मोह न शोक
आवे सुख पावे सब लोक।"

---

1. त्याज्य—त्यागने के योग्य। 2. आहुति—पुकारना।

तुम्हें न था जब कोई मोह,
होते कहो कहाँ विद्रोह?
भीति-भरी शासन की नीति
पाती नहीं प्रजा की प्रीति।
आर्य-वंश ही अतुल अखर्व[1]
कर सकता है इसका गर्व—
कर करके सुख-शान्ति-विधान,
किया उसी ने जगदुत्थान[2]।
कहाँ सिकन्दर-सा सरताज,
नेपोलियन कहाँ है आज?
किन्तु बुद्ध के राज्य महान
अब भी श्याम, चीन, जापान।
युद्ध-विजय नत रही समक्ष,
पर था बुद्ध-विजय निज लक्ष।
पाया हमने जब जो सार
उसे विश्व को दिया पुकार।
औरों ने भी आकर दूर,
की शासन-सत्ता भरपूर।
किन्तु धर्म या धन के अर्थ?
सदा स्वार्थ-साधन के अर्थ?
पशु-बल नहीं चाहता धर्म,
नहीं कराता वह दुष्कर्म।
लूट-मार या अत्याचार
करे लुटेरों की तलवार।
हिन्दू-शासन का सुविकास
बतलाता है जगदितिहास[3]।
दुर्लभ वहाँ विभंजक भीति,
रही नित्य रंजक नृप-नीति।

---

1. अखर्व—जो छोटा न हो, अर्थात् बड़ा। 2. जगदुत्थान—जगत का उत्थान।
3. जगदितिहास—संसार का इतिहास।

राजनीति

प्रजातन्त्र औरों के आप
प्रकट राज-सत्ता के पाप।
कुटिल नीति की जारज-सृष्टि
हैं, यद्यपि हों उन्नत दृष्टि।
यहाँ पूर्व से ही सविवेक
राजा-प्रजा प्रकृति थी एक।
तब तो राम-राज्य सुख भोग
करते थे तुम हिन्दू लोग।

अवतार

हिन्दू धन्य तुम्हारा धर्म,
धन्य कामना-वर्जित कर्म?
धन्य तुम्हारी ज्ञानासक्ति,
धन्य तुम्हारी श्रद्धा, भक्ति!
धन्य तुम्हारा प्रेम अपार,
प्रकट हुए प्रभु भी साकार!
उनके वे मनुष्य अवतार,
हुए तुम्हीं में बारम्बार।
आस्तिकता के सच्चे गर्व
हरि नर होकर हुए न खर्व।
देकर अपना पुण्यस्पर्श,
दिया उन्होंने दिव्यादर्श।

महत्ता

किसके धर्माचार विचार
स्वीकृत करता था संसार?
गये हमीं अब उनको भूल,
शाखाएँ तब हों जब मूल।
देखो भूमण्डल भर घूम,
कहाँ तुम्हारी रही न धूम?
जिसका है यह व्यक्त भविष्य
यूरुप है शिष्यों का शिष्य।
तिब्बत, श्याम, चीन, जापान,
लंका, यवद्वीप, ईरान,
काबुल, रूस, रोम, यूनान,
कहाँ न थी आर्यों की आन?

अपमान

दुनिया भर के सारे देश
रहे कभी आर्योपनिवेश।
जो थे मानवकुल - सिरमौर
नहीं कहीं अब उनको ठौर!
हम हैं आज विभक्त, विपन्न[1];
दुर्लभ है मुट्‌ठी भर अन्न।
किन्तु करें मिल कर यदि आह,
तो भी कौन सहे वह दाह?

---

1. विपन्न—विपत्ति में पड़े हुए।

आशा

बजे आज पश्चिम का तूर्य[1],
डूबा जहाँ पूर्व का सूर्य;
किन्तु उदय की आशा नित्य
दिखला रहा हमें आदित्य[2]।
जिनका कुछ भी न था अतीत,
गावें क्या वे उसके गीत?
भूले हम क्यों उसकी याद,
जिसमें है अपना आह्लाद?
वही करेगा हमें सचेत
और वही देगा संकेत
दे सकता है वही प्रबोध
और हमें जीवन का शोध।
जिनके पीछे है कुछ सार
उनके आगे भी विस्तार।
आप बना कर अपनी लीक,
बढ़ सकते हैं वे निर्भीक।
न हो, बन्धुगण, न हो निराश,
शून्य नहीं निज भाग्याकाश।
अब भी शीतल नहीं कृशानु,
उदित पूर्व ही में है भानु।
बहुत राष्ट्र हो बोते आज,
तब भी हो तुम जीते आज।
किन्तु जियो तो गौरवयुक्त,
और मरो तो होकर मुक्त।
रक्खो अपने कुल का मान,
वह है कैसा मधुर-महान!
पीलो वह पीयूष[3] पुनीत,
होगी जीवन-रण में जीत।
तुम पर है उनका कुल-भार
किया जिन्होंने कला-प्रचार।

---

1. तूर्य—तुरही। 2. आदित्य—सूर्य। 3. पीयूष—अमृत।

चित्र, शिल्प, कविता, संगीत,
जिन्हें आप ही थे उपनीत[1]।
होने पर कितने हुत-होत्र[2],
बने तुम्हारे हैं कुल-गोत्र।
आर्य-वंश की है क्या बान?
त्याग, तपस्याएँ, बलिदान।
रहा अतीत तुम्हारा आप,
जिसका अब भी प्रकट प्रताप।
कर लो वर्तमान को साथ
है भविष्य तो अपने हाथ।

साधन

नहीं रहा अब वह उत्कर्ष[3],
विगत हुए हैं सौ सौ वर्ष।
पर खोलो यदि नयन निमेष
तो साधन हैं अब भी शेष।
वही उर्वरा धरा[4] उदार,
वही सिन्धु बहु रत्नागार,
वही देश जिसकी है ख्याति,
और वही है अपनी जाति।
वही हिमालय, विन्ध्य विशाल,
सुख-दुख के साक्षी चिरकाल।
वही सुनिर्मल जल-प्रवाह,
कूल-किनारे अपने आह!
वही सिन्धु-सरयू के तीर,
गंगा-यमुना के कल-नीर।
वही अखिल अन्नों के खेत,
खानें बहु मणि-धातु-निकेत।
देखो अब भी खोलो नेत्र,

1. उपनीत—प्राप्त। 2. हुत-होत्र—होम। 3. उत्कर्ष—उत्कृष्टता, श्रेष्ठता। 4. धरा—पृथ्वी।

वही प्रान्त पुर पुण्य-क्षेत्र,—
हुए जहाँ वे चारु चरित्र,
एक एक सौ सौ स्मृति-चित्र!
वही पंचनद, राजस्थान
प्राप्त जिन्हें है गौरव-मान।
वही बिहार, उड़ीसा, बंग
हैं अक्षय भारत के अंग।
युद्ध, मध्य, पांचाल, पुलिन्द,
चेदि, कच्छ, काश्मीर, कुलिन्द,
द्रविड़, मद्र, मालव, कर्णाट,
महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, विराट,
कामरूप, किंवा आसाम,
सातों पुरियाँ, चारों धाम,
अटक-कटक तक एक अभंग
दुख में, सुख में, सब हैं संग।
अब भी अपना है नेपाल
किये हुए निज उन्नत भाल।
अब भी धन्य गोरखा वीर,
राजपूत, सिख, जाट, अहीर,
धारण करो ऐक्य-अनुराग
जायँ तुम्हारे सब भय भाग।
है ऐसा भू भारत भाग,
पद पद पर है जहाँ प्रयाग
अब भी यहाँ बदल कर वेश,
कोसल, काशी, मथुरा शेष।
इन्द्रप्रस्थ कि पाटलिपुत्र,
कान्यकुब्ज, उज्जयिनी कुत्र[1]?
छोड़ परस्पर वैर-विवाद,
करो आर्यगण, अपनी याद।
देखो वे धुँधले-से चित्र,
दिखा रहे हैं कौन चरित्र।
तुम निराश क्यों हो इस भाँति?

---

1. कुत्र—कहाँ।

सोचो, पाप कटें किस भाँति।
अब भी वेद-शास्त्र वे सर्व;
जिनका है जगती को गर्व;
अब भी स्मृतियाँ हैं अवशिष्ट[1],
टाल सकें जो अखिल अरिष्ट[2]।
गीता और पुराण पुनीत
रामायण-भारत जय गीत।
अब भी है वह प्रतिभा शेष
जिससे हो नव नव उन्मेष[3]।
धरो राग निज, मेटो द्वेष;
अंकित करो स्व-भाव स्व-वेष।
हिन्दू, जैन, बौद्ध-उपलब्धि[4]
अब भी तीन ओर निज अब्धि[5]।
आत्मा के एकत्व-समान
चौथी ओर अटल हिमवान।
हैं जितने निज अन्य विवेक
सबका उद्गम-संगम एक।
अब भी उपनिषदों के मन्त्र,
कर सकते हैं मुक्त, स्वतन्त्र।
वे गिरि से भी ऊँचे ग्रन्थ
नहीं दिखा सकते क्या पन्थ?
अब भी ज्ञान-कर्म युत भक्ति,
दे सकती है तुमको शक्ति।
राम-कृष्ण के चारु-चरित्र
जो पतितों को करें पवित्र,
अब भी हैं सुवर्ण लिपिबद्ध;
सब कुछ है, तुम हो सन्नद्ध[6]।
और कहीं भेजे हों दूत,
हुए यहाँ प्रभु प्रादुर्भूत[7]।
जन्मे हो तुम जहाँ निदान,

---

1. अवशिष्ट—शेष। 2. अरिष्ट—अशुभ। 3. उन्मेष—प्रकाश, उदय। 4. उपलब्धि—प्राप्ति, बुद्धि, अनुभूति। 5. अब्धि—समुद्र। 6. सन्नद्ध—उद्यत। 7. प्रादुर्भूत—प्रकट।

वह प्रभु का भी जन्मस्थान!
प्रभु पर है भारत का भार,
हुए जहाँ उनके अवतार।
होगा जो कुछ है भवितव्य,
पालो तुम अपना कर्तव्य।

अवनति के कारण

क्या है इस अवनति का मूल?
अपने कर्म गये हम भूल।
खो बैठे अपना कुल-शील;
पायी चंचल मन ने ढील।
हुआ अन्त में वह उत्क्षिप्त[1],
व्यसन और विषयों में लिप्त।
गयी स्वार्थ की फिर वह ग्लानि,
खलती जिसे और की हानि।
उपजा फिर आलस्य प्रमाद,
लगा फैलने मायावाद।
हम यों होने लगे हताश,
कौन रोकता सत्यानाश?
बढ़ा परस्पर ईर्ष्या-द्वेष,
विग्रह वैर विरोध विशेष,
खसने लगे शरीरस्तम्भ
उपजा आडम्बर या दम्भ।
रहा न जब तनु में पुरुषार्थ,
फिर कैसे पूरा हो स्वार्थ?
लेकर तब औरों की ओट,
करने लगे चतुर बन चोट।
औरों से मिल मिल कर मन्द,

1. उत्क्षिप्त—ताड़ित, फेंका हुआ।

बन कर अमीचन्द, जयचन्द,
किया हमीं ने अपना नाश,
पहना पराधीनता-पाश!
खो बैठे अपना घर-बार;
लुटे हाय! हम बारम्बार।
आज हमारा है यह हाल,
हम हैं दीन, दास, कंगाल!
देव मूर्तियाँ भी न निरस्त्र
जिनकी, हुए वही निश्शस्त्र।
रक्षा पाते जिनसे रक्ष्य,
वही हिंस्र पशुओं के भक्ष्य।
जिनसे घर बैठे सब लोक
पाता रहा अमृत अस्तोक[1],
उनके बच्चों को हा लाज,
हुआ दूध भी दुर्लभ आज!

जातीयता

करो बन्धु गण, करो विचार,
किस प्रकार हो अब उद्धार?
सब कुछ गया, जाय, बस एक—
रक्खो हिन्दू पन की टेक।
ऐसा है वह कौन विवेक
करता हो जो हमको एक?
और बढ़ा सकता हो मान?
केवल हिन्दू-हिन्दुस्तान।

1. अस्तोक—बहुत।

फूट

सुन लो असमय की ही बात,
सह कर भी कितने आघात
रक्खा तुमने अपना नाम।
(मिटे मुल्क के मुल्क तमाम)
तप्त रेणु का वह तूफान,
उठा अरब से जो अनजान,
रोका गया कहाँ दुर्द्धर्ष,
बीते चार चार सौ वर्ष?
जिस उद्धत का देख प्रकोप
उलट गया सारा यूरोप,
कर न सका वह हमको लोप;
खड़े रहे हम निज पद रोप।
हुए किरकिरे कितने स्थान,
उजड़े, उखड़े बहु उद्यान।
अड़े रहे जो पौधे पूत
इसी भूमि के थे उद्भूत।
कोई इसे न जावे भूल
हिन्दूपन था उनका मूल।
हुए कुठारों की कब भेंट?
जब हम बनें आप ही बेंट।
आपस का विरोध हा हन्त!
करता गया हमारा अन्त।
मचे महाभारत बहु वार,
हुआ हमारा ही संहार।

स्वाभिमान

अब भी चेतो, न हो उदास,
चेता रहा तुम्हें इतिहास।
बुरी बात की भी क्या टेक?
समुचित है सत्याग्रह एक।
किस पर इतने हुए प्रहार?
किसने झेले इतने वार?
त्याग आक्रमण-मूलक नीति
हमने भोगी है बहु भीति।
इसका नहीं हमें कुछ खेद,
मिट जावे आपस का भेद।
रक्खो हिन्दूपन का गर्व,
यहीं ऐक्य के साधन सर्व।
हिन्दू निज संस्कृति का त्राण
करो, भले ही दे दो प्राण।
कठिन काल में भी कुलमान
रक्खा तुमने दे दी जान!
किसके लिए मिटा चित्तौर?
जूझे राजपूत सिरमौर?
रही पद्मिनी रूपी साख,
पायी बस रिपुओं ने राख।
हिन्दूसत-सुवर्ण की जाँच
कि थी जौहरों की वह आँच?
पीढ़ी दर पीढ़ी, बहु काल
चलता रहा युद्ध विकराल।
हिन्दूपन का प्रकृत प्रताप
रहा किन्तु निश्चल निष्पाप।
हुआ हिन्दू आसूर्य न मन्द,
समुदित रहा स्वच्छ स्वच्छन्द।
झुकी न हिन्दूपन की पाग,
रुकी न बलि वेदी की आग।
केसरिया बागे सज शूर

वर ले गये कीर्ति भर पूर।
वीर शिवाजी बाजीराव
रखकर कहो कौन सा भाव,
करते थे किसका विस्तार?
हिन्दूपद का, करो विचार।
चम्पत क्षत्रसाल अरिकाल
बनें हिन्दवाने की ढाल।
गुरु गोविन्द और रणजीत
रखते थे निज भाव पुनीत।
'वढ़े धर्म हिन्दू' यह छन्द
गाया है किसने सानन्द?
चिड़ियों से पिटवाये बाज,
रक्खी निज गुरुता की लाज।
वे छोटे बच्चे निरुपाय
चुने गये जीते जी हाय
स्वीकृत किया न किन्तु विधर्म,
था यह किस संस्कृति का मर्म?
बनें आज सिख हमसे भिन्न,
हों यों क्यों न आप उच्छिन्न।
पर मत हों कितने ही अन्ध
अक्षय है शोणित सम्बन्ध।
जैन, बौद्ध, सिख, वैष्णव, शैव,
हिन्दू कौन रहा फिर दैव?
न हो न हो हे हिन्दू, खिन्न,
सब अभिन्न हैं, मत हों भिन्न।
वैष्णव, शैव, शाक्त, सिख, जैन,
हो कि न हो या कुछ हो ऐन,
पर तुममें है हिन्दू-रक्त;
हो इस पुण्यभूमि के भक्त।
भाई न लो दीर्घ निःश्वास,
धारण करो आत्मविश्वास।
युग युग के आदर्श अभंग,
हैं सर्वत्र हमारे संग।
अन्य जातियों के इतिहास,

हैं कुछ शताब्दियों के दास।
आर्यजाति-जीवन की माप,
काल-दण्ड कर सका न आप।
था अतीत निज गौरव-गेह,
फिर भविष्य का क्या सन्देह?
प्राची का प्रकाश प्राचीन,
लेगा, लेगा जन्म नवीन।
तारों का क्या ह्रास-विकास,
क्या वह रोदन, क्या वह हास!
जिये इन्दु का वह इन्दुत्व
ऐसा ही अपना हिन्दुत्व।
चाहे हम जर्जर हैं आज,
किन्तु अमर निज जाति-समाज।
सदा रहे न रहेंगे कष्ट;
हुए न होंगे हिन्दू नष्ट।
सोचो वह अपूर्व उत्कर्ष,
शिखा न दी, शिर दिये सहर्ष।
खुले न विश्वासों के बन्ध,
हटे न सूत्र, कटे सुस्कन्ध।
काजी लेकर लाल कुरान,
दिया किया फतवा-फरमान।
किन्तु हकीकत सका न खोल,
रहे हकीकतराय अडोल।
जजिया लगे, कटे सिर लाख,
रही किन्तु तब भी वह साख।
तब भी तुम बाईस करोड़,
अब भी कौन तुम्हारा जोड़?
हिन्दू धन्य तुम्हें है धन्य,
ऐसे संकट में क्या अन्य—
जी सकती थी कोई जाति?
मिटा सके तुमको न अराति[1]।
किया तुम्हीं ने किसी प्रकार

1. अराति—शत्रु।

असिधारा-प्लावन[1] भी पार।
झेली सदियों तक शर-वृष्टि,
हिन्दू धन्य तुम्हारी सृष्टि।

दौर्बल्य

तदपि हाय! तुम अस्तव्यस्त,
इसीलिए यह रुदन समस्त।
आओ, अब हो जाओ एक,
एक प्राण का हो उद्रेक[2]।
हों कितने ही अपने अंग,
पर सबमें हो एक उमंग।
एक सिन्धु के कोटि तरंग,
निरखे स्वयं समय भ्रू-भंग।
विफल तुम्हारे क्यों प्रस्ताव?
क्यों कम है भावों का भाव?
क्यों ऐसी लज्जा की लूट?
क्यों कि घुसी है तुममें फूट।
क्यों तुममें है भय भरपूर?
क्यों तुमसे साहस है दूर?
कोटि कोटि होकर भी हाय!
तुम हो एकाकी असहाय!
क्यों तुम आज हतप्रभ[3] मन्द?
क्यों तुम नहीं स्वस्थ स्वच्छन्द?
लगा तुम्हें क्यों घुन या घाव?
ब्रह्मचर्य का हुआ अभाव।
क्यों लुच्चे लुंगाड़े नीच
ले जाते हैं बधुएँ खींच?

---

1. असिधारा-प्लावन—तलवार की धार की बाढ़। 2. उद्रेक—उदय, वृद्धि, उत्तेजन।
3. हतप्रभ—जिनकी कान्ति नष्ट हो गयी है, मलिन।

तन-मन से तुम निर्बल आज,
रख सकते हो कैसे लाज?
सहकर भी इतना विद्रोह,
करते हो तुम किसका मोह?
मरो न यदि तो डरो अवश्य,
डरो न तुम यदि मरो अवश्य।

विधवा

हिन्दू-विधवा की शुचि मूर्त्ति,
पवित्रता की सकरुण पूर्ति।
कर दें खल छल-बल से भंग,
तो मरने का कौन प्रसंग?
किस पर है इसका दायित्व?
यही तुम्हारा है न्यायित्व
कि तुम करो ब्याहों पर ब्याह,
पर विधवाएँ भरें न आह!
तुम बूढ़े भी विषयासक्त,
बनी रहें वे किन्तु विरक्त,—
वे जो निरी बालिका मात्र—
अस्पर्शित है जिनका गात्र?
आप बनों विषयों के दास,
वे अभागिनी रहें उदास।
कुपथ दिखाते हो तुम आप,
सहें कहाँ तक वे सन्ताप!
सोचो तुम हो कितने क्रूर?
दया और ममता तो दूर!
करते हो उनका अपमान,
धर्म कहाँ है हे भगवान!
करो न हा! वह शुचिता नष्ट

सहे स्वयं जो जीवन-कष्ट।
सादर उसे झुकाओ सीस,
दे जिसमें वह तुम्हें असीस।
वह विराग की सूरत एक,
महात्याग की मूरत एक,
संयम, सहिष्णुता की खान,
ईश्वर रक्खे उसकी आन।
विधवाओं का पुनर्विवाह,
नहीं उच्च आदर्श-निबाह।
पर उससे अच्छा सौ वार,—
जो है दुराचार, व्यभिचार।
पुष्ट करो तुम अपना पक्ष,
किन्तु न भूलो अन्तिम लक्ष।
रक्खो ऊँचा ही आदर्श,
कर न सकें जो इतरस्पर्श।
यदि आदर्श झुकाया जाय,
तो उन्नति का कौन उपाय।
करो न अवनति के प्रस्ताव;
आप तुम्हीं ऊँचे हो जाव।

स्त्रियों के प्रति कर्तव्य

छोड़ो वे बेजोड़ विवाह,
होता है जिनसे गृह-दाह।
दो अबलाओं को अवकाश—
कि वे करें निज जड़ता-नाश।
भूमि वही है, करो प्रयत्न,
हुए जहाँ वे रमणी-रत्न।
जिनकी जगमग ज्योति विलोक,
चौंकी स्वयं नियति गति रोक।

गृह में गृह-लक्ष्मी की पूर्ति,
वन में सावित्री की मूर्ति।
रण में असुर-नाशिनी शक्ति,
आविर्भूत करे निज भक्ति।
हों अपने युग अंग ललाम,
जैसा दक्षिण वैसा वाम।
दोनों अंगों का आरोग्य—
करे तुम्हें सुख-साधन-योग्य।

शक्ति-संचय

कहाँ तुम्हारा वह उत्साह?
क्यों न नसों में रुधिर-प्रवाह?
हुई निराशा क्यों यह घोर?
उदासीन तुम अपनी ओर।
मन मलीन क्यों? तन है छीन,
इसी लिए हिन्दू, तुम हीन।
मातृभूमि की रज में लोट—
बनो बली फिर कसो लँगोट।
गुड़ें अखाड़े दोनों काल,
जुड़ें जहाँ माई के लाल।
करें वीर-वर्धक व्यायाम,
वीर-विनोदी हैं जो काम।
बहे वहाँ जब तन का स्वेद,
रहे कहाँ तब मन का खेद।
होने पर निज गृह सम्पन्न,
न हो भला क्यों गृही प्रसन्न?
निज समाज के प्रहरी रूप,
रहो, सहो सरदी या धूप।
सकें लुटेरे लाज न लूट,

कुल-गौरव-गढ़ रहे अटूट।
दुर्बल का कब तक है क्षेम,
उस पर कौन करेगा प्रेम?
दया भले कोई कर जाय,
किन्तु जगत है निर्दय हाय!
सबलों को ही मैत्री-मान
मिलता है सर्वत्र समान।
जिनमें होता है कुछ सार,
यहाँ उन्हीं के हैं अधिकार।

अप्रमाद

पर होने पावे न प्रमाद,
रक्खे इसे बराबर याद!
न हो व्यर्थ बाधक निज शक्ति
रहे सदा साधक निज शक्ति।
पाकर हिन्दू बल का योग;
करें सभी मधुफल का भोग।
मुसलमान हों या क्रिस्तान,
उसका करें सहर्ष बखान।

जातीयपर्वोत्सव

निज जातियोत्सव, व्रत, पर्व,
मिल कर सदा मनाओ सर्व।
किसके हैं इतने त्योहार;—
जिनसे है विशुद्ध व्यवहार?

ग्राम-नगर सुख-साधन हेतु,
निर्जन वन आराधन-हेतु।
नित्य भंग हो जिनकी शान्ति,
पावें वे मन में विश्रान्ति।

होली

अविश्वास, ईर्ष्या, अन्याय,
जलती होली में जल जाय।
उड़े असुरी बल की राख,
फैले सत्याग्रह की साख।
जिये प्रेम रूपी प्रह्लाद,
गूँजे नर-हरि[1] का जयनाद।
भाई से भाई मिल जाय,
हाँ फुलवारी-सी खिल जाय।
उड़े गुलाल, ऐक्य आ जाय
फिर अपनी लाली छा जाय।
एकस्वर से हो यह गान,—
"जय हिन्दू जय हिन्दुस्थान!"
खेलो खुलकर सरस बसन्त,
हो जावे अवनति का अन्त।
रूखेपन के सूखे पत्र
अपने आप झड़ें सर्वत्र।
नवस्फूर्ति की नयी बयार,
नव्यांकुर[2] भव्याविष्कार।
पूर्ण - प्रकृति, पूरे उद्योग,
पावें सब रसाल फल भोग।

1. नर-हरि—नरसिंह। 2. नये अंकुरों के समान भव्याविष्कार हो।

संवत्सर

नव युग, नव संवत के संग
आवे, लावे नयी उमंग।
हों नूतन आशा, उत्साह,
रुके न निज विक्रम की राह।
गिरें गरज सुन कर वे भ्रूण[1]
जो देशद्रोही शक-हूण।
राजसभा के नव नव रत्न,
दिखलावें पथ सजग, सयत्न।

रामनवमी

राम जन्म का उत्सव योग,
मेटे जीवन के सब रोग
मनुजचरित के सारे अंग–
मिलें हमें एकत्र अभंग।
आदि काव्य का हो रस-पान,
रामचरित-मानस में स्नान।
हो रमणीय राम का ध्यान,
गौरव और गुणों का ज्ञान।
कि 'स्वदेशस्य हिताय'[2] सहर्ष
करें सभी कुछ हम प्रति वर्ष।
मिटे ताड़का-त्रुटि का त्रास,
यज्ञ-पूर्त्ति का हो विश्वास।
भय न रहे विघ्नों के बीच,
उड़े नीचता का मारीच।
टूटे कुग्रह - केतु - सुबाहु,

1. भ्रूण–गर्भ। 2. स्वदेशस्यहिताय–स्वदेश के लिए (वाल्मीकि रामायण से)।

छूटे निज कुल-रवि का राहु।
कठिन पिनाक[1]-रूप प्रण पाल
ग्रीवा में जयमाला डाल,
सब साम्राज्यों में उत्कर्ष
पावें अपना भारतवर्ष।
स्वजन परिजनों की अनुरक्ति,
पितृप्रेम भ्राता की भक्ति,
पातिव्रत पत्नीव्रत पूत,
धाम धाम में हों उद्भूत।

अखती

अखती अथवा आखातीज,
कलियुग में सतयुग का बीज।
फैलाओ वह पुण्य-प्रताप
मिटें आप ही सारे पाप।

गंगदसहरा

गंगदसहरा उसके बाद,
करो भगीरथ तप की याद।
बहे प्रेम की वह ध्रुवधार,
हो हिन्दू-कुल का उद्धार।

1. पिनाक—शिव का धनुष।

श्रावणी

वह श्रावण, वह रक्षाबन्ध,
फैले नव-गौरव का गन्ध।
बढ़े मेल, श्रद्धा-सम्बन्ध,
सब कुछ झेल सकें ये स्कन्ध।
भागें भय-बाधाएँ दूर,
कर न सके कुछ कोई क्रूर।
सुनकर अपना प्रेमालाप
गूँज गगन गद्गद हो आप।

जन्माष्टमी

आवे कृष्ण-जन्म की रात,
जागे हिन्दू-प्रभा-प्रभात।
छवि की पूर्ण छटा छा जाय।
सुन्दर श्याम घटा छा जाय,
जितने भी रज[1] हों धुल जायँ,
माता के बन्धन खुल जायँ।
पापों के प्रहरी सो जायँ,
कारागृह मन्दिर हो जायँ,
छा जावे गोकुल में हर्ष,
दहले दुरित[2] दैत्य दुर्धर्ष।
कुटिल नीति मय कल्मष[3] कंस
हो जावे ससैन्य विध्वंस।
माखन मिश्री, मोहनभोग,
आवे सबका ऐसा योग।
सजें यशोदा माँएँ थाल,

---

1. रज—धूलि, पाप। 2. दुरित—पाप। 3. कल्मष—पाप।

जीमें बालरूप गोपाल।
बजै चैन की वंशी ऐन,
कर दे हमें वही बेचैन।
खिले भक्ति का करुण विलाप,
प्रकृति पुरुष्र का मिले मिलाप।
भव्य भागवत का हो पाठ,
देखे ज्ञान ध्यान का ठाठ।
गीता करे मोह का नाश,
योगत्रय का भरे प्रकाश।
भय छोड़ो हिन्दू-सन्तान,
अभय दे रहे हैं भगवान।
सुनो सहर्ष सुनो श्रुति खोल,
उनकी वह वाणी अनमोल—
"छोड़ अन्य सब धर्म विवेक
मेरा शरणागत हो एक!
शोच न कर, हर कर सब पाप,
तुझे मुक्ति दूँगा मैं आप!"

नवरात्र

न हो हिन्दुओ, न हो निराश,
तुम्हें अभय से कब अवकाश।
प्रस्तुत हो पूजा का पात्र,
देखो आ पहुँचा नवरात्र।
तुममें भी है नवधाभक्ति,
देगी माँ तुमको नवशक्ति।
असुर-मोहिनी का आह्वान,
और करो निज धर्मध्यान[1]।
फूटें वे कल्मष के कुम्भ,

---

1. ध्यान—शब्द, ध्वनि।

रक्तबीज या शुम्भ निशुम्भ।
मातृभूमि की वेदी मान,
करो धर्म-संगत बलिदान।
क्षुद्र मेष[1] अथवा वे छाग,
सिद्ध नहीं कर सकते याग।
करो, करो कुछ आत्मत्याग,
जिस पर है माँ का अनुराग।
पीकर उसका अमृतस्तन्य[2],
तुम न मरोगे, होगे धन्य।
वह यश कौन सकेगा रोक,
जैसा है यह चन्द्रालोक?

विजयदशमी

उठो विजय-यात्रा के हेतु,
बँधे विघ्न-वारिधि का सेतु।
विजयादशमी* का यह काम,–
हमको मिलें हमारे राम।
हो सतीत्व-सीता का त्राण,
पुलकित हों फिर अपने प्राण।
जमे यमदिशा[3] में भी धाक,
कटे वासना की वह नाक।
अपने व्यवहारों से दक्ष
वानर भी हों नर समकक्ष।

---

1. मेष–भेड़, मेंढ़ा, 2. स्तन्य–दूध।

* देख जगत को जर्जर जीर्ण;
हुए आज ही थे अवतीर्ण
विश्व वन्द्य विज्ञान-निधान
श्रीसिद्धार्थ बुद्ध भगवान।

3. यमदिशा–दक्षिण।

पापों की लंका ढा जाय,
घर घर अवधपुरी छा जाय।
हो फिर भ्राता-भरत-मिलाप,
मेटे राम-राज्य सब पाप।

दीवाली

रहे हर्ष का ओर न छोर,
दीपावली जगे सब ओर।
रत्नहार पहने निज देश,
त्यागे जीर्ण मलिन यह वेश।
कुल-लक्ष्मी को पूज प्रसन्न
हो धन-धान्य-धर्म-सम्पन्न।
हाँ, प्राणों का पण[1] लग जाय,
इस रज का कण कण जग जाय।
एक क्षण में भय भग जाय,
जीवन रण में जय जग जाय।
हुए इसी दिन थे उद्भूत;
—भागें जिनसे भय के भूत,—
आंजनेय[2], 'अतुलित बलधाम,'
जिनके रोम रोम में राम।
धर्म भक्ति का हो निर्वाह,
हो शंका-लंका का दाह।
महावीर-दल का जय-नाद
दूर करे भय-विषय-विषाद।
देकर भव को भावुक प्राण,
लेकर आप अटल निर्वाण
हुए आज ही थे अशरीर
महावीर तीर्थंकर धीर।

---

1. पण—बाजी। 2. आंजनेय—हनुमान।

अतुल अहिंसा के आचार
पाकर धन्य हुआ संसार।
किन्तु समझ अब तक वह तत्त्व
पा न सका हा! प्रकृत महत्त्व।
युग युग से अक्षय अविराम
पाप-पुण्य का है संग्राम।
किन्तु बन्धुगण, न हो सशंक,
सूखेंगे आखिर सब पंक[1]।
सिद्ध हो चुका है यह मर्म—
जय है वहीं जहाँ है धर्म।
अपना धर्म यहाँ तक ध्येय—
कि है निधन[2] भी उसमें श्रेय।
हे अपार हिन्दू-संसार!
तेरा एक एक तिथि-वार
रखता है सौ सौ इतिहास,
उद्यत हो तू, न हो उदास।
हुए सिद्धजन यहाँ अनन्त—
कृती, व्रती विजयी, बुध, सन्त।
तिथियों, जयन्तियों की गोद
हमें पालती रहे समोद।

युवकों के प्रति

हिन्दू-युवक, उठो तुम आज—
रक्खो निज समाज की लाज।
हो तुम पर विभु की वर-वृष्टि;
लगी तुम्हीं पर आशा-दृष्टि।
अपना गौरव, अपनी ख्याति,
भूल गयी है हिन्दू जाति।

---

1. पंक—कीच, पाप। 2. निधन—मरण।

उसे दिलाओ उसकी याद,
मेटो उसका महा प्रमाद।
शाला और सभाएँ खोल,
तथा कथा-कीर्तन अनमोल,
कर करके तुम बारम्बार,
हिन्दूपन का करो प्रचार।
जागे हिन्दू में हिन्दुत्व,
यही सिन्धु का है विन्दुत्व।
क्षेत्र बना है, बो दो बीज,
कभी न होगी उसकी छीज।

गाँवों का सुधार

करके शिक्षा-कार्य समाप्त,
विद्यालय की पदवी प्राप्त।
फिर तुम ग्रामों में कर वास
ग्रामीणों का करो विकास।
शुद्ध सरल जीवन के साथ
रक्खो उन पर अपना हाथ।
उन पर—उपजा कर भी अन्न—
रहते हैं जो स्वयं विपन्न!
करते हैं श्रम वे जी तोड़,
मरते हैं फिर भी ऋण छोड़!
बतलाओ कुछ उन्हें उपाय,
बढ़ा सकें वे अपनी आय।
संक्रामक रोगों की छूत
(जिसे समझते हैं वे भूत)
कर न सके उनका अपघात,
उन्हें बताओ उसकी बात।
साधारण रोगों को रोग

नहीं मानते हैं वे लोग।
मिथ्या विश्वासों के ग्रास–
बनें, भोगते हैं बहु त्रास।
देखो दृश्य करुण-वीभत्स
मरते हैं उनके बहु वत्स।
छुरे काटते हैं जो नार
होते हैं बहुधा सविकार।
उनका विष, शोणित के संग,
(जैसे दंशन करे भुजंग)
होकर सब शरीर में व्याप्त,
कर देता है उन्हें समाप्त!
कौन कहे, कैसे गुणपाल
होते उनमें कितने बाल?
हाय! हमारे कितने लाल
लूट रहा है काल–अकाल!
दो जाकर तुम उन्हें प्रबोध;
करो न उन पर घृणा न क्रोध।
उनमें हैं श्रद्धा के भाव,
पालेंगे वे सब प्रस्ताव।
दो उनको साहस, विश्वास,
लें निर्भय होकर निःश्वास।
पाकर तुमको अपने बीच
समझें वे न आपको नीच।
उन पर कोई, किसी प्रकार,
कर न सके अब अत्याचार।
समझें वे अपने अधिकार,
और करें अपना उद्धार।
फूलो तुम गाँवों में फैल;
धन तो है इस तन का मैल।
होगे तुम्हीं वहाँ वर व्यक्ति;
सभी करेंगे सेवा, भक्ति।
पाकर तुम जैसा अवलम्ब
उभरेंगे वे बिना विलम्ब।
पाकर शुचि भोजन, शुचि वायु,

पाओगे तुम भी दीर्घायु।
उनके साथ, उन्हीं में पैठ,
ऊँची चौपालों पर बैठ,
देश-विदेशों के संवाद
उन्हें सुनाओ,—हरो प्रमाद।
खेतों की मेंड़ों के मंच,
तुम्हें संकुचित करें न रंच।
वहाँ तुम्हारे हों व्याख्यान,
बढ़े निरन्तर उनका ज्ञान।
करो कला-कौशल-विस्तार।
जिससे हो उनका निस्तार।
मिले उन्हें शिक्षा सर्वत्र,
तुम हो उनके छाया-क्षत्र।
तुम्हें स्वरक्षक, शिक्षक जान,
दे न सकेंगे वे प्रतिदान।
किन्तु असीसेंगे जी खोल;
होगा वह कितना अनमोल!
उनके बच्चे करके होड़
पेड़ों पर चढ़ चढ़, फल तोड़,
देंगे जो तुमको उपहार
होंगे वे मानों फल चार!
अपना राष्ट्र जाति निज जीर्ण
है ग्रामों में ही विस्तीर्ण।
जाकर वहाँ जलद-सम आप
भेटो तुम उसका उत्ताप।
होगा तुमको कितना पुण्य?
सफल करो अपना नैपुण्य।
पाओगे मन का सन्तोष,
लुटें कि जिस पर धन के कोष!
करके थोड़े में निर्वाह,
छोड़ो बहु वेतन की चाह।
करना है यदि देशोद्धार
तो कुछ त्याग करो स्वीकार।
धन है क्या जन से भी श्रेष्ठ?

मान और मन से भी श्रेष्ठ?
वह है दान-भोग के योग्य,
बनों न उलटे उसके भोग्य।
'अधम चाकरी' में हो लीन,
कैसे तुम होगे स्वाधीन?
'उत्तम खेती' करो सहर्ष,
पाओ आर्योचित उत्कर्ष।
खेती से सबका निर्वाह,
उसमें नहीं किसी की आह।
उलटा सबका सामंजस्य
साम्य-भाव का भरा रहस्य।
अन्न-वस्त्र से ही निज ग्राम
हो निश्चिन्त न लें विश्राम।
आवश्यक साधन सब अन्य
स्वयं सिद्ध करके हों धन्य।
स्वावलम्ब ही तो है स्वर्ग,
उस पर सब कुछ हो उत्सर्ग।
अपना ग्राम ग्राम हे राम,
हो ज्यों एक एक सुखधाम।
हिन्दू, सफल करो यह लक्ष,
फिर सतयुग आ जाय समक्ष।
हों या न हों आज के यन्त्र,
होगे तुम सम्पूर्ण स्वतन्त्र!

पराया मोह

औरों की आशा है त्याज्य,
जहाँ नहीं वह, वहीं स्वराज्य।
दे बस, तुम्हें तुम्हारा देश
आवश्यक उपकरण अशेष।
है आदान एक अपमान,

कर न सकें यदि हम प्रतिदान।
रक्खोगे तुम किस पर भार?
ऋणी तुम्हारा है· संसार।
करके अर्थ-धर्म की सिद्धि,
काम-रूप निज कुल की वृद्धि।
करो मुक्ति-साधन तुम सभ्य,
क्रम से कुछ भी नहीं अलभ्य।
दया करो अपने पर आप,
न लो पूर्वजों का अभिशाप।
बना बनाया है पथ पूत,
तुम चलकर ही बनो सपूत।
छोड़ो अब भी यह आलस्य,
जीवित ही मृत न हो वयस्य।
उठो, सँभालो अपना वेष,
देखो घर कि रहा क्या शेष?
जो है वह भी अस्तव्यस्त,
करो उसे फिर तुम विन्यस्त[1]।
और न होने दो निज हानि,
मेटो अब तक की सब ग्लानि।
देख रहे हो किसकी राह?
नहीं समझते हो तुम, आह!
जो न करेगा आप उपाय,
होगा उसका कौन सहाय?
औरों की बातों में लीन
मत समझो अपने को हीन।
उनकी चित्रसारियाँ लक्ष
हों अब भी निज गुफा[2]-समक्ष!
विभु का विशेषत्व सब ओर,
उसका कोई ओर न छोर।
पर यह उसकी लीला-भूमि,
है विशेष गुण-शीला भूमि।
बहुरत्ना वसुमता विशाल,

---

1. विन्यस्त—स्थापित, सज्जित। 2. गुफा—अजन्ता से अभिप्राय है।

सभी कहीं माई के लाल।
देखो सबकी झलक अमन्द,
किन्तु पलक निज करो न बन्द।
आदर्शों की है निज जाति,
ज्यों मुक्ताजननी है स्वाति।
पुरुषोत्तम ही अपने ध्येय,
जो अमरों को भी अज्ञेय।
जगती भर में सबसे ज्येष्ठ
रहे तुम्हारे पूर्वज श्रेष्ठ।
अब भी कहाँ मिलेगा अन्य
गाँधी तुल्य धीर कुल-धन्य?
पश्चिम के वे आविष्कार
कर बैठे कितना संहार?
किसका वह विज्ञानिक धन्य
देखे जो जड़ में चैतन्य?
भूल गये तुम अपना योग
जिस के निकट भोग हैं रोग।
अब भी दो यदि उस पर ध्यान
तो पाओ बहु रवि-विज्ञान।
सब है तुममें अतुल, अटूट,
किन्तु साथ ही है वह फूट।
और नीति अब की है कूट,
इसी लिए है यह सब लूट!

संघ-शक्ति

करो संघटन, पालो पक्ष,
स्वयं प्राप्त हो लक्ष समक्ष।
तोड़ा चाहो कलियुग-जंघ
तो हो बली, बनाओ संघ।

पाओ, तन-मन का आरोग्य,
आओ, हो जाओ इस योग्य।
तुम पर हो जिसका जो भाव
उससे करो वही बर्ताव।

चातुर्वर्ण्य

अपना चातुर्वर्ण्य विधान,
है गुण-कर्म-स्वभाव-प्रधान।
छोड़ो ऊँच-नीच का दम्भ,
सम है हम सबका आरम्भ।
वह विराट है एक उदार
जिससे जन्मे हैं हम चार।
कौन अंग है उसका हेय?
प्रथम चरण ही प्रभु के ध्येय।
सभी जन्म से शिशु सुकुमार;
फिर गुण, कर्म, प्रकृति, संस्कार।
इन चारों के ही अनुसार
वर्णों के हैं चार प्रकार।
मन से और वचन से एक,
जन-सेवा जीवन से एक,
अन्न उपार्जन, धन से एक
करें यथोचित तन से एक,
ये चारों ही मान्य समान,
हो समाज में सबका मान।
तभी हमारी होगी वृद्धि,
और देश की सिद्ध-समृद्धि।
कहाँ जातिगत होकर कर्म
बनें और बढ़ कर थे धर्म।
पाकर परम्परा का पर्व

सहज–सुसाध्य–हुए थे सर्व।
पर हम निकले ऐसे भ्रष्ट–
किया सभी कुछ अपना नष्ट!
फिर भी शुष्क जाति अभिमान–
करते हैं निर्लज्ज-समान!
आज द्विजत्व कहाँ निज हाय!
हम सब हैं बस, वृषलप्राय[1]।
या तो भिक्षुक हैं, या भृत्य,
भूल गये हैं कृत्याकृत्य!
कोई आज जनेऊ डाल–
बन जावे जो चाहे हाल।
बना यहाँ वह उलटा पाश,–
है आयुर्बलतेजोनाश!
जिस तिस को ब्राह्मण कर आज
तुम न बढ़ाओ नष्ट समाज।
करो, चाहते हो यदि सिद्धि,
सच्चे ब्राह्मणत्व की वृद्धि।

मत-स्वातन्त्र्य

व्यापकता से होकर भ्रष्ट,
न हो संकुचितता में नष्ट
वर्ण भेद का अनुचित भाव
करे न हिन्दूपन पर घाव।
पक्षपात है न्याय-विरुद्ध,
दलबन्दी है घर का युद्ध।
प्रतिनिधि-निर्वाचन का कार्य
दे तुमको साहस, औदार्य।
दूध-दुहाई और दबाव,

---

1. वृषलप्राय–शूद्र के समान।

कभी न अपने मन में लाव।
तभी तुम्हारे मत की मुक्ति,
वह अन्यथा अन्य की उक्ति।
अपनों का भी अन्ध चुनाव,
है मकड़ी का जाल बुनाव।
उससे क्या होगा उद्धार?
उलटा बन्धन है तैयार।
रह न जाय वह जन उपयुक्त,
न हो तुम्हारा जो कुलभुक्त।
मतदाता माली अनुकूल,
चुन लें काँटों में भी फूल।

अपनों का अनादर

हिन्दू, न हो आप अनुदार,
छोड़ो वे संकीर्ण विचार।
किया तुम्हीं ने जगदुपकार,
करो आज अपना उद्धार।
अपनों पर अपनों की ग्लानि,
करती है यह किसकी हानि?
अपना एक बड़ा समुदाय
है बन रहा विधर्मी हाय!

प्रतिकार

हमें बनाने को बेधर्म,—
होते हैं कैसे क्या कर्म?
करके उनका उचित विचार,

करो यत्नपूर्वक प्रतिकार।
जागो, त्यागो मोह-प्रमाद,
लो घर-बाहर के संवाद।
देकर अन्य राज्य बहु ऋद्धि,
करते हैं अपनों की वृद्धि।
किन्तु हमारा ही जब ह्रास,
तब क्यों उपजे हमें न त्रास?
हिन्दू राज्य हरें यह भीति,
समुचित है संरक्षण नीति।
जो आघात वही प्रतिघात।
यह तो है स्वाभाविक बात।
हिन्दू, सजग रहो, सब ओर,—
लगे धर्म-धन के हैं चोर।

विधर्म

किसमें यह साहस, यह शक्ति,
हमें सिखावे श्रद्धा-भक्ति,
और दिखावे सच्चा धर्म,
जो है हिन्दू का कुल-कर्म?
ईसा महापुरुष हैं मान्य,
क्षमामूर्ति, व्रतवीर वदान्य[1]।
धर्म विषय में वही सुपात्र,
हैं इस भारत के ही छात्र।
फिर भी हा! यह कैसी लाज
हिन्दू ईसाई हों आज!
घर की घृणा और यह पेट,
उभय ओर है चोट चपेट।
इसी लिए हिन्दू सन्तान,

---

1. वदान्य—उदार, दानी मृदुभाषी।

आज अधिकतर हैं क्रिस्तान।
इसी लिए निज धर्म विहाय,
हिन्दू मुसलमान हैं हाय!
सरल रसूल नबी का धर्म,
रखता हो चाहे जो मर्म।
दीख पड़ा दृढ़ता के साथ,
खुला खंग ही उसके हाथ!
"कर दे औरों को तुम आप—
मुझे दिलाओगे अभिशाप।"
अपनों से जो - बारम्बार,
यह कह गया पुकार पुकार।
देकर उस रसूल को शाप
ले सकते हैं क्या हम पाप?
साधुवाद उसको शत बार;
पर हा! यह कैसा व्यापार—
गये खंग के दिन जब दूर,
तब अब उसी धर्म के शूर
ले रण्डी-भड़ओं की फौज
लेने चलें विजय की मौज!
पशुबल बहा, बहा, बह जाय;
केवल छल-कौशल रह जाय।
हे रसूल, हे पाक रसूल!
सच था तेरा शंका शूल।
पा लें हम सब कुछ आचार,
पर हैं आदत के लाचार।
पाकर तो भी तुझ-सा छत्र
हुए क्रूर-कलही एकत्र!
बाजीगर का है यह काम,
उसे रीछ भी करें सलाम।
दिखा गया तू वही जमाल,
बहशी* बन्दे बनें कमाल!

---

* 'चलन जितने उनके थे सब बहशियाना
फसादों में कटता था उनका जमाना।'

आ, फिर इन्हें दिखा तू राह,
पर तू तो अन्तिम था आह!
तो अब इनके लिए उपाय?
बस ईश्वर ही करे सहाय।
पुण्य पाप को लेकर साथ,
हो सकता है कभी सनाथ?
अपने बल से आप विशाल
रहता है सुधर्म सब काल।
फिर भी, फिर भी, हा हत भाग्य,
हमें धर्म से है वैराग्य!
क्या है इसका सरल निदान,
"सब से कठिन जाति अपमान!"

जाति-बहिष्कार

हे हिन्दू-समाज, उठ, जाग,
लगी हुई है घर में आग।
मची हुई है कुल की लूट,
गयीं हिये की भी क्या फूट?
रहा कहीं ऐसा ही हाल
तो समीप है तेरा काल।
उठ, अब भी कह दे तू स्पष्ट—
हुए, न होंगे हिन्दू नष्ट।
रीत रहा जो तेरा कोष
इसमें है तेरा ही दोष।
व्यय है जहाँ नहीं है आय
कब तक वहाँ कुशल है हाय?
तू अपना धन हटा न और,
अब अपना तन कटा न और।
कर निज पतितों का उद्धार,

और खोल दे उनका द्वार।
हिन्दू-कुल का संकट-काल
आपद्धर्म पाल कर टाल।
हो सकती है सबसे भूल,
न दे व्यवस्थाएँ प्रतिकूल।
राम-कृष्ण के पावन नाम,
गंगा-तुलसी, शालग्राम,
किन पतितों को, सोचो मित्र!
कर सकते हैं नहीं पवित्र?
पतितों के ही त्राण-निमित्त,
कहे गये हैं प्रायश्चित्त।
जगती में जब तक है बुद्ध
नहीं बेतुकी तब तक शुद्धि!
भूले-भटके भाई-बन्द
जो आवें, आवें सानन्द।
उन्हें सँभालो, दो साहाय्य;
न्यायी बनो, यही है न्याय्य;
भूल न जाओ, बिना समष्टि[1]
रही, न रह सकती है व्यष्टि[2]।
तुम न उन्हें दोगे अवकाश
तो लेंगे अन्यत्र निराश।
ऐसे और बहुत तैयार,
करें उन्हें जो अंगीकार।
अपनों को पर करो न और,
जो उड़ जायँ दूसरी ठौर।
होते हैं निज जब पर—दूर,
बनते हैं अरि से भी क्रूर।
वृक्षों को वह बेंट कठोर,
है कुठार से भी अति घोर!
किया गया जब जाति-भ्रष्ट,
विप्र बृहस्पति पाकर कष्ट,
कोई और उपाय न ताक,

1. समष्टि—समग्रता, समाज। 2. व्यष्टि—एक-एक व्यक्ति।

बना भयंकर था चार्वाक।
इसी लोक में सब कुछ जान,
मरणोत्तर कुछ और न मान
ऋण लेकर, खाकर घी-खाँड़,
बना फिरा जीवन भर साँड़।
सह न सका वह दारुण दण्ड,
स्वेच्छाचारी बना प्रचण्ड।
हुआ भले ही 'भस्मीभूत'
किन्तु छोड़ कर निज मत-दूत!
सह लें हम स्वजनों की मार,
रहता है उसमें भी प्यार।
किन्तु घृणामय उनका भाव,
कर देता है दुस्सह घाव।
त्याग रहे अपनों को आज
कैसे रक्खोगे तुम लाज?
दुष्कुल से भी रमणी रत्न,
लेते थे तुम स्वयं सयत्न।
बनो गुणग्राहक तुम लोग,
निकल न जावे कहीं सुयोग।
जो पर हैं, अपने हो जायँ,
न कि उलटे अपने खो जायँ।
शुद्धि, किन्तु अपनी भी संग,
त्याज्य गलित अपना भी अंग।
विजातीय भी विज्ञ वदान्य
समझो सजातीय सम मान्य।
हिन्दू मुसलमान क्रिस्तान
परम पिता की सब सन्तान।
सभी बन्धु हैं लघु या ज्येष्ठ,
मत से मनुष्यत्व है श्रेष्ठ।
लिखी नहीं माथे पर जाति
गुण-कर्मों से उसकी ज्ञाति।
सब के दो पद हैं दो हस्त,
सजातीय हैं मनुज समस्त।

आप[1] निम्नगामी है आप,
पर उसको भी तपः[2]-प्रताप
कर देता है उच्च उदार,
और नहीं रहता फिर क्षार।
है उत्थान पतन सर्वत्र;
हम सब कर्म-पवन के पत्र।
किन्तु नीच उठ सकें न यत्र
होंगे पतित उच्च भी तत्र।

अछूतों का उद्धार

रहो न हे हिन्दू, संकीर्ण,
न हो स्वयं ही जर्जर-जीर्ण।
बढ़ो, बढ़ाओ अपनी बाँह,
करो अछूत जनों पर छाँह।
हैं समाज के वही सपूत,
रखते हैं जो सबको पूत।
क्यों अछूत जन हुए अछूत?
उनको लगी हमारी छूत।
है समाज-शिशु की जो धाय,
उस संस्था पर यह अन्याय!
कि हो देव-दर्शन तक बन्द!
रहा न ईश्वर भी स्वच्छन्द?
फिर हम कैसे हों स्वाधीन?
न हों भला क्यों दुर्बल दीन?
हम पर ईश्वर की फटकार!
रोका हमने उसका द्वार!
परम भागवत ऊँचे आर्य
कहते हैं अपने आचार्य—
"जाति-पाँति पूछे नहिं कोय,

1. आप—जल। 2. तप—तपस्या और ग्रीष्म।

हरि कों भजै सो हरि को होय।"
जपते हो हिन्दू, जो माल
भूल गये क्या उसका हाल?
देखो गुरियाँ का इतिहास,
मिलें कबीर, सदन, रैदास।
अपने विभु के बाहु विशाल,
शबरी हो या गुह चाण्डाल।
सोख सूर्य-सम सारे पंक,
भर लेते हैं उसको अंक।
अन्त समय कह कहीं हराम!
होने से उसमें भी राम,
गया म्लेच्छ था जिनके धाम,
उन प्रभु को सप्रेम प्रणाम।
शुचि होते हैं श्वपच किरात
यथा आर्य गण गंगास्नात[1]।
करके जिन चरणों का ध्यान
दें वे हमें सत्व-गुण-ज्ञान।
कुत्ते-बिल्ली से भी दूर
रक्खे अपनों को जो क्रूर
क्या अचरज यदि उनको अन्य
समझें घृण्य, असभ्य, जघन्य।
क्यों अछूत हैं आज अछूत?
वे हैं हिन्दूकुल-सम्भूत[2]!
गाते हैं श्री हरि का नाम!
आते हैं हम सबके काम?
बनें विधर्मी वे अनजान,
मुसलमान किंवा क्रिस्तान
तो हो जाते हैं सुस्पृश्य!
हाय दैव, क्या दारुण दृश्य!
रखते हों यदि हम कुछ शर्म
करें न अपनों को बे-धर्म।
धरे रहें सब शिखा कि सूत्र,

1. स्नात—स्नान किये हुए। 2. सम्भूत—उत्पन्न।

जो न हटावें वे मल-मूत्र।
जब अपाप है कर्ता आप,
कोई कर्म नहीं तब पाप।
आप अछूत जनों के कृत्य
करती हैं निज माँएँ नित्य।
दलित बन्धु, शुचिता के दूत,
उठो कि छूमन्तर हो छूत।
करो अपूर्व अछूते कर्म,
छू न सके हाँ, तुम्हें विधर्म।
जब तक है सांसारिक दृष्टि
तब तक ऊँच-नीच की सृष्टि,
स्वाभाविक समझो तुम लोग,
ऊँचे बनो, करो उद्योग।
वसुधा भर में है वैषम्य
फिर क्या यहाँ नहीं वह क्षम्य?
समता-मूलक है जो ज्ञान
वह भी क्या सर्वत्र समान?
पर इसके कारण क्या हाय!
किया जाय तुम पर अन्याय?
करो समुन्नति का प्रारम्भ
मिटे द्विजों का मिथ्या दम्भ!
करो हमारा क्यों न विरोध,
पर स्वधर्म पर करो न क्रोध।
करके निज सर्वस्व समाप्ति
होगी भला तुम्हें क्या प्राप्ति?
छू देने से ही प्रिय मित्र,
कोई होता नहीं पवित्र।
करे तुम्हें जो यों उत्कृष्ट
उससे बड़ा कौन है धृष्ट।
रहो स्वच्छता सहित सुदृश्य
मलिन भाव ही है अस्पृश्य।
ऊँचा लक्ष्य करो तुम विद्ध,
साधन कर हो जाओ सिद्ध।

हिन्दू-साधन अक्षय-आप्त[1]
नहीं मृत्यु के संग समाप्त,
वह निज परम्परा के साथ;
न हो निराश, न खींचो हाथ।
जन्म जहाँ चाहे दे दैव,
निज-वश हैं गुण-कर्म सदैव।
पंकज-रूप-रंग या गन्ध
रखते नहीं पंक-सम्बन्ध।
करो अछूतों का उद्धार,
उन्हें सिखाओ शुद्धाचार।
वे समाज के रक्षक अंग,
होने पावें विकृत न भंग।
थे वाल्मीकि व्याध विकराल,
मुनि मतंग भी थे चाण्डाल।
पर तप, त्याग, सुकृत, व्रत साध,
हुए उभय ब्रह्मर्षि अबाध[2]!
ऊँचा कर न सके यदि पुण्य
तो धिक है उसका वैगुण्य[3]।
तब तो हुआ पाप ही धन्य—
करता तो है पतित जघन्य!
हर्ष-सभा का सभ्य सुजान
जो था बाण मयूर-समान,
वही दिवाकर था मातंग[4],
देखो मत केवल बहिरंग।
सबके हित विज्ञानादर्श;
पर न घृणा-मय हो अस्पर्श।
धन्य 'महत्तर'* पावन[5] धन्य,
जिनसे निर्मल हैं सब अन्य!
अन्त्यज वैसे नहीं कठोर
जैसे साह बने वे चोर—
जो कृषकों का सब कुछ मूस

---

1. आप्त—प्रामाणिक। 2. अबाध—बाधा रहित। 3. वैगुण्य—गुणहीनता।
4. मातंग—चाण्डाल। * मेहतर के लिए प्रयुक्त। 5. पावन—पवित्र करनेवाला।

रहे रक्त भी उनका चूस।
करते हैं क्षत्रिय आखेट,
भरते हैं आमिष से पेट।
अन्त्यज क्या करते हैं और?
मरते हैं निज प्रभु का पौर*!
द्विज तो हैं अब याचक मात्र!
बहुत हुए तो पाचक[1] मात्र!
किन्तु आज भी करके टाल
धर्म पालते हैं चाण्डाल।
हम सबका है एक स्वकर्म;
उसमें मरना भी है धर्म।
पालें सब निज निज कर्तव्य
भरा इसी में भव का भव्य[2]।
निर्गुण भी स्वधर्म आराध्य,
अन्य धर्म दुर्द्धर-दुस्साध्य।
विषप्रयोगी भिषक् सदर्प
धरें न गारुड़ीक सम सर्प।
श्वपच नहीं गोपच से हीन
पर हाँ हिन्दू हैं वे दीन!
इसी लिए हैं वे अस्पष्ट
क्योंकि दलित हैं हिन्दू धृष्ट।
रक्खें सब निज गौरव गर्व,
मानव ही हैं मानव सर्व।
देकर सबको आदर दान,
दो निज मनुष्यत्व को मान।
आखिर प्राणि मात्र हैं एक,
विश्रुत है यह आर्य-विवेक।
हैं जितने आचार-विचार
उन पर है सबका अधिकार।

---

* बुन्देलखण्ड में बहुधा डाकुओं के डर से मेहतर पहरेदार बनाकर रक्खे जाते हैं।
1. पाचक–रसोइया। 2. भव्य–कल्याण।

विजातीय

विजातीय भी मन को शोध
आवें, पावें यहाँ प्रबोध।
हिन्दू-धर्म मुक्ति का द्वार,
करे प्रवेश सर्व संसार।
किन्तु शुद्धि कैसी वह हाय!
कोई भी ब्राह्मण बन जाय।
हों चाहे गुण कर्म विरुद्ध
किन्तु हो चुके हैं हम शुद्ध!
तदपि चित्त है चपल नितान्त,
सहज नहीं हो सकता शान्त।
उसके लिए विशेष प्रयास—
करना होगा बहु अभ्यास!
सच्चे ब्राह्मणत्व का मेल
नहीं हास्य-कौतुक या खेल।
करो ब्रह्म की प्रथम प्रतीति
तब 'ब्रह्मास्मि' कहो तो रीति।
कर सकते हो यदि तुम जाग,
विश्वामित्र तुल्य तप, त्याग।
तो तुम इतर वंश-सम्भूत
बन सकते हो ब्राह्मण पूत।
द्विज-दीक्षा-भाजन तुम तात,
था ज्यों सत्यकाम अज्ञात,—
यदि अपमान-लाज-भय भूल,
सत्य प्रकट कर सको समूल।
यों भिक्षा चाहो सव्याज
तो बन जाओ ब्राह्मण आज।
गया फणी तो मणि के संग,
यह कंचुक ले रहा तरंग।
पालो आर्योचित सद्धर्म,
साधो यथासाध्य शुभ कर्म।
पाओगे उनके अनुसार

तुम समुचित आदर सत्कार।
ब्राह्मण क्या उनके भी मान्य,
हो सकते हो व्रती वदान्य।
बन कर ज्ञानी-ध्यानी-धीर
हुए न किसके मान्य कबीर?
आज चार्ल्स विलियम डी. रेष्ट*
करके साधन सजग सचेष्ट
बनकर शुद्ध सदाशय सन्त
हुए हमारे मान्य महन्त।
वह अमरीकन लेडी एक
पाकर हिन्दू-धर्म-'विवेक'
होकर 'निवेदिता'* निःस्वार्थ,
बनी हमारी बहन यथार्थ।
थी द्विजत्व की वहाँ न माँग,
सच्चे भरें भला क्यों स्वाँग?
हुआ जहाँ आत्मा का ज्ञान,
वहाँ और किसका फिर ध्यान?
थी मिस् स्लेड* सुधीरा अन्य,
बनी हमारी मीरा धन्य,
'सात समुद्रों' का व्यवधान
भागा दूर पराभव मान।
मुसलमान रसखान-समान,
कर निज 'ब्रज-गोकल'* का गान,
अब भी द्वार खुला है, आयँ,
'कोटिन हिन्दू'* वारे जायँ।
हममें शुद्ध हुओं का स्थान,

---

* ये एक फ्रेंच सज्जन हैं। बहुत दिनों से हिन्दू धर्म में दीक्षित हो चुके हैं। शिमला के एक मन्दिर के महन्त हैं। नाम है मस्तराम।

* स्वर्गीय भगिनि निवेदिता को स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म की दीक्षा दी थी।

* कुमारी स्लेड फ्रांस के एक बड़े सेनापति की पुत्री हैं। वे महात्मा गाँधी की शिष्या होकर सत्याग्रह आश्रम में रहती हैं उनका हिन्दू नाम मीराबाई है।

* मानुष हौं तो वही रसखान
बसों ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।—रसखान

* इन मुसलमान हरि-जनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।—हरिश्चन्द्र

रक्खें अपना—उनका—मान।
सोचे बिना, विषम-पद-दान
बन जाता है विपद-निदान।
कोई कुल हो, कोई देश,
कहीं तुम्हारा रहे निवेश[1],
कर सकते हो तुम स्वीकार,
हिन्दू धर्माचार विचार।
एक नियम है केवल एक,
रक्खो तुम कुछ क्यों न विवेक।
रुचे तुम्हें वह संस्कृति-मात्र,
तो तुम हिन्दूपन के पात्र।
आदर्शों से हो अनुराग,
और तुम्हें रुचता हो त्याग।
तो हिन्दू चरित्र निष्पाप,
द्रवीभूत[2] कर देंगे आप।

धर्मानुशासन

हिन्दू-धर्म कि मानव-धर्म,
है अभिन्न दोनों का मर्म।
उसका शासन सुनो सहर्ष,—
जियो कर्म करके सौ वर्ष।
कर्म-सम्भवा सिद्धि सदैव,
अपना पूर्व-कर्म ही दैव।
सुनो, कर्म कोशल ही योग,
भोगो अनासक्त सब भोग।
करो न औरों के प्रति भूल
समझो जो अपने प्रतिकूल।

---

1. निवेश—घर। 2. द्रवीभूत—मुग्ध, विगलित, पानी पानी।

समझो स्वात्मा सी सब सृष्टि,
रक्खो सब पर सौहृद[1] दृष्टि।
हमें हमारा धर्म विशाल
आर्य बनाता है चिरकाल;
और बताता है यह कार्य,
कि हम बना लें सबको आर्य।
प्राप्त करें जो कुछ हम लोग,
करें न एकाकी उपभोग।
दें औरों को भी सहयोग,
वे भी प्राप्त करें वह भोग।
जागो और उठो अनिवार्य
साधो आर्योचित सतकार्य।
होगा वह अवश्य सम्पन्न,
यह निश्चय कर रहो प्रसन्न।
आर्य-धर्म-गत विश्वप्रेम
नहीं चाहता किसका क्षेम?
हैं जितने जड़-चेतन जन्तु
निखिल निरामय सुखी भवन्तु*।
पाकर आर्य-देव पितृ-पर्व*
दैत्य, नाग, राक्षस तक सर्व,
पाते हैं हम से परितोष;
उठता है 'तृप्यन्ताम्' घोष।
हिन्दू नहीं चाहते स्वर्ग,
नहीं चाहते वे अपवर्ग।
करें दुःख-तप्तों का त्राण,
यही चाहते उनके प्राण।

1. सौहृद—मित्रता, बन्धुता।
* सब निरोग और सुखी हों।
* पितर-पक्ष से अभिप्राय है।

'तस्य तुष्यति केशवः'

परपीड़न से विरत वियुक्त,
सर्वभूत हित निरत नियुक्त,
देता है सबको सम भाग,
सफल उसी का जीवन-याग।
पढ़ने पर भी संकट कष्ट
होने दे जो धैर्य न नष्ट,
और न दे प्रभु को जो दोष
पाता है वह हरि-परतोष।
सुनें प्रेम से जो सब धर्म,
सोचे समझे सब का मर्म,
सब देवों को करे प्रणाम
उस पर रीझे रक्खे राम।
साधे सब का योगक्षेम
पाले प्राणि मात्र का प्रेम,
जितक्रोध जो है अनसूय
समझो उसे भागवत भूय।

सहायता

जो जन हों असहाय अनाथ,
रक्खो उनके सिर पर हाथ।
शिक्षित बनें अकिंचन बाल,
निकलें वे गुदड़ी के लाल।

स्वावलम्ब

बढ़ें घरेलू बहु व्यवसाय,
जिनसे स्वावलम्ब आ जाय।
हो स्वतन्त्र जीवन-निर्वाह,
रहे किसी को आह न डाह।
कत जावे घर में ही सूत,
लगे न लंकासुर[1] की छूत।
घर की चादर हो तैयार,
न हो किसी पर लज्जा-भार।
घर घर हो नव-कला-प्रचार,
मिटे कलह-कुल का संहार।
चले न कहीं छुरी तलवार,
रुकें न सुई-सलाई हार।
उठें न दण्ड कहीं बल-दृप्त[2],
उठें लेखनी-तूली तृप्त।
गूँजें घर घर हरि-गुण-गीत
हो हिन्दू-जीवन की जीत।
निज वसुधा पर सभी पदार्थ,
सारे अर्थ और परमार्थ।
बनकर कर्मठ, वीर, वदान्य,
प्राप्त करो तुम सब धन-धान्य।

कृषि-सुधार

जब तक तुम हो मेघाधीन
तब तक हो कृषि में भी दीन।
प्रकृति क्यों न अपनी हो आप

1. लंकाशायर का हिन्दी संस्करण। 2. दृप्त—गर्वित।

उसके भी वश होना पाप!
कभी तुम्हीं थे ऐसे धन्य
परिजन थे मानो पर्जन्य[1]।
करके एक वर्ष कृषि-कर्म
खा सकते थे तुम दस वर्ष।
आज स्वयं भूखी है भूमि,
नीरस है रूखी है भूमि।
सार-हीन है उसका गात्र,
काम नहीं देगा जल मात्र!
अब भी हो तुम कृषिप्रधान,
गोबर का तुम रक्खो ज्ञान!
हुए हाय! तुम ऐसे हीन!
खाईं बेच हड्डियाँ बीन!
जितने द्रव्य और हैं अन्न
सब धरती ही से उत्पन्न,
कृषि-सुधार में करो प्रयत्न,
उपजे अन्न-तुल्य ही रत्न!
और करो गोवंश सुधार,
बहे अटूट दूध की धार।
घर घर बरसे 'कंचन-मेह'
उपजे बस न एक सन्देह।
नयी युक्तियों में हो लीन,
नयी उपज हो स्वाद, नवीन।
बीज वही पर नूतन वृद्धि
इन्द्रजाल की-सी कुछ सिद्धि!
फूल फलों का करो विकास,
बढ़े सुरस, सौन्दर्य, सुवास।
प्रकृति चमत्कारों की खान,
उन्हें प्राप्त कर करो बखान।

1. पर्जन्य—मेघ।

प्रचार

ग्राम-ग्राम में ग्रन्थागार,
करें ज्ञान-गुण का विस्तार।
बढ़े हिन्द-हिन्दी पर प्यार,
भरें राष्ट्र भाषा-भाण्डार।
फैलाओ हिन्दू साहित्य,
युग युग का सहचर निज नित्य।
निज भू, निज भूषा, निज वेष,
निज भाषा, निज भाव अशेष।

मृत्युंजय

करो न अटल मृत्यु-भय व्यर्थ
रहो समुद्यत उसके अर्थ।
बनो आत्म-साक्षी तुम आप,
स्वयं मिटेंगे सारे पाप।
हो जाओ व्रत पर बलिदान,
क्षय हो, जय हो,—उभय समान।
या तो स्वर्ग, कीर्ति, गुण-गान,
या नव गौरव सुख-सम्मान।
बढ़ें मृत्यु का भय जो ठेल,
रखते हैं उनसे सब मेल।
बाँध शून्य में भी वे सेतु,
फहराते हैं ध्रुव पर केतु।
खोजो मृत्यु, दिखाओ ओज,
जीवन करे तुम्हारी खोज।
वैसी ही गति जैसी मृत्यु,
त्यागो ऐसी वैसी मृत्यु,

तुम में पुनर्जन्म-विश्वास,
और अन्त में स्वर्ग-निवास।
रही मुक्ति भी अमृत उलीच,
डरें मृत्यु से नरकी नीच।
तुम स्वधर्म पर हो उत्सर्ग
पाओ स्वर्ग और अपवर्ग।
पर न करो अपना अपघात*,
वह है महा पाप विख्यात।

कर्मों का मर्म

समझो मर्म,—एक ही कर्म,
कहीं धर्म है कहीं अधर्म।
करते हैं रण में जो क्षत्र[1],
वही हिंस्र-हिंसा अन्यत्र।

आत्म-रक्षा*

करो धर्म-धन-जन का त्राण,
देकर भी—लेकर भी प्राण।

---

* आत्मा का हनन, आत्मघात।

1. क्षत्र—क्षत्रिय।

* भारतीय दण्ड विधान (Indian penal code) में, 96 से 106 धारा पर्यन्त आत्म-रक्षाधिकार (Right of private defence) द्रष्टव्य। इसी सम्बन्ध में महर्षि मनु की आज्ञा अगले पृष्ठ में उद्‌धृत है।

अधम आततायी[1] को मार,
तुम्हें स्वरक्षा का अधिकार।
जो तुमको वध करने जाय,
वित्त[2]-वधू को हरने जाय।
वध्य[3] स्वयं वह बर्बर वन्य[4],
मारो देख उपाय न अन्य।
शासन पर है इसका भार
अपराधी का करै विचार।
समय रहे तो संकट भीति,
उसको सूचित करो सनीति।
आ न सके शासन-साहाय्य
तो फिर है इसमें ही न्याय्य—
कि जो करे खल तुम पर वार
तुम भी उस पर करो प्रहार।
केवल शासन-कार्य-विरुद्ध
है निज बलप्रयोग निरुद्ध
और जहाँ कर सके बचाव
निर्भय उसे काम में लाव।
रक्खो केवल इतना ध्यान
जैसा बतला रहा विधान[5]।
बल से लो उतना ही कार्य
जितना जान पड़े अनिवार्य।
रक्खो अपने देवस्थान,
रक्खो अबलाओं का मान।
बल रहते सह कर अन्याय,
धिक जो न्याय माँगने जाय।
अन्य जनों के भी रक्षार्थ
(प्राप्त पुण्य के प्रिय पक्षार्थ)

---

1. आततायी—अनिकारी आक्रमणकारी मारने को उद्यत।
गुरुं वा बाल वृद्धं वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतं
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ (मनुस्मृति)
2. वित्त—धन।
3. वध्य—मारने के योग्य। 4. वन्य—जंगली, पशु।
5. विधान—व्यवस्था, कानून।

करो घातकों पर प्रतिघात,
तो यह है विधि की ही बात।

प्रतिवासी

रक्खो पड़ोसियों का ध्यान,
है विधर्मियों में भी ज्ञान।
यही चाहते हैं भगवान,
भजें उन्हें बहु विध सन्तान
ले लेकर स्वधर्म का नाम
हुए यहाँ भी भीषण काम।
किन्तु बनें चिर-मति-मुख चुम्ब
बहु-धर्मी फिर एक कुटुम्ब।
दूर करो अनुचित आवेश,
लो अतीत से कुछ उपदेश।
पकड़ भूत-भावी के छोर
देखो वर्तमान की ओर।

मन्दिरों का उद्धार

मठ-मन्दिर सच्चे हों सिद्ध,
न हों वहाँ वे कर्म निषिद्ध।
उनका ऐसा करो सुधार,—
बहे स्वयं श्रद्धा की धार।
ढहे जायँ मन्दिर प्राचीन,
हम बनवाते जायँ नवीन।
तो वह बनवाना है व्यर्थ

मानों ढाने के ही अर्थ!
नष्ट न होने दो निज-चिह्न।
इस सर के वे सरसिज चिह्न।
नहीं शिल्प कौशल ही शेष,
वे निज साक्षी भी अनिमेष।
नीरव भाषा में सविषाद
देंगे वही पूर्व-संवाद।
वे साहित्य-सदृश ही रक्ष्य[1],
रखते हैं वैसा ही लक्ष्य।

मादकता

करो मोह-मोदकता दूर,
हो चरित्र-चरचा में चूर।
निज चैतन्य मिटाना आप,
क्या ही जड़ता, क्या ही पाप?
न लो अरे, मादकता मोल,
न दो गाँठ का भी धन खोल।
तन से करो साधना नित्य,
मन से समाराधना नित्य।

साधु-सुधार

साधु-सन्त हैं बीसों लाख,
बनें विभूति कि जिनकी राख।
उद्यत करो उन्हें धर्मार्थ,

1. रक्ष्य—रक्षा के योग्य।

सहज सिद्ध हों सब परमार्थ,
जिसके लिए छोड़ सब भोग
धूनी रमा रहे वे लोग,
उसी धर्म पर संकट आज
समझे उनका साधु समाज।
रटते हैं वे जिनके नाम,
भूल गये हैं उनके काम।
यदि है उनमें सच्ची भक्ति,
तो फिर दिखलावें कुछ शक्ति।
शेष रहा अब उनका वेश,
भूले वे अपना उद्देश।
एक उन्हीं का करो सुधार
तो मिल सकते हैं फल चार।
जिस समाज पर उनका भार,
कौन करे उसका उद्धार?
जब वह उनका ही समुदाय
आकर उनका न हो सहाय।
तुम गृहस्थ हो मोहासक्त,
पर वे तो हैं विदित विरक्त।
जिन्हें नहीं है भय का नाम,
सत्याग्रह है उनका काम।
जहाँ धर्म का हो व्यवसाय
और दान-भिक्षा का आय
वहाँ साधुता का पाखण्ड
क्यों न करेंगे धूर्त कि भण्ड।
दीक्षा भी पा जायँ परन्तु
खल ही निकलेंगे खल जन्तु।
छोड़ो स्वर्गंगा के बीच
झक ही मारेंगे बक नीच!
आत्मा-नदी, शील-शुचि-नीर,
सत्य-तीर्थ, शम-दम दो तीर।
दया-बीचियों[1] बीच नहाव,
मन का भी तो मैल बहाव।

---

1. बीचि—तरंग।

मुक्ति

बनते थे जो तज धन-धाम
जीवन्मुक्त कि आत्माराम,
मुक्ति मात्र था जिनका मन्त्र,
आज वही हिन्दू परतन्त्र।
छोड़ भुवन के भोग-विलास,
ले लेते थे जो संन्यास
वे ही आज पराये दास,
बन्दी गृह हैं उनके वास!
होकर जिसके साधक भक्त,
बनें भूप भी भिक्षु विरक्त।
वह कैवल्य; परम-पद, मुक्ति,
है पुरुषार्थ उसी की युक्ति।
पर जो जीवित ही परतन्त्र
बनें दूसरों के कर-यन्त्र,
वे मर कर होंगे क्या मुक्त?
उठो अरे, फिर हो उद्युक्त।
आश्रम, संघ, पीठ, समुदाय,
कितने सम्प्रदाय, आम्नाय[1]
किये यहाँ तुमने निर्माण,
सबका लक्ष्य रहा निर्वाण।
मुक्ति हेतु तुम सब कुछ त्याग,
लेते थे संन्यास, विराग।
अब पहले स्वातन्त्र्य-निमित्त
बनो निश्चयी, निश्चल-चित्त।
पर-वश न थे प्रथम तुम लोग
तब था उचित वही उद्योग।
अब परावलम्बन का फेर
घात कर रहा तुमको घेर।
धारण करके भी संन्यास

1. आम्नाय–अभ्यास, परम्परा।

था राजत्व तुम्हारे पास।
निर्भय प्रव्रज्या[1]-व्रत धार
करते थे तुम तभी प्रचार।
पत्थर मार मार कर हाय!
अब भी परधर्मी असहाय
मारे जाते हैं जब दूर
तुम्हें कौन सकता था घूर?
वनें स्वयं व्यसनों के कौर,
मुक्ति-योग्य तुम रहे न और।
छोड़ो फिर अनात्मविश्वास,
मुक्त पवन में लो निःश्वास।
मोह, दैन्य, दौर्बल्य, अशक्ति,
ईर्ष्या, हिंसा, स्वार्थासक्ति,
अकृति, असाहस, भय, सन्देह,
तुम्हें बना बैठे निज गेह।

शासन

कहाँ आज वह शासन हाय!
करके जो शिक्षक-सा न्याय,
मार मार कर जड़ता मेंट,
खड़ा करे फिर हमें समेट?
दण्डनीय था ऐसा ग्राम
मानों दस्यु जनों का धाम,
जहाँ न हों द्विज श्रुति-सम्पन्न,
खाते हों भिक्षा का अन्न।
धार परिव्राजक का वेष
धरे न जो निजधर्म विशेष
श्वपदांकित* कर उसका भाल

---

1. प्रव्रज्या—संन्यास, प्रवास, पर्यटन। * कुत्ते के पैर के चिह्न से चिह्नित।

देते थे नृप उसे निकाल।
भीतर कोमल, बाहर क्लिष्ट
आज हमें वह शासन इष्ट,
अस्त्रवैद्य-सा अदय उदार,
करे हमारा जो उपचार।
किसे विदेशी-शासन यन्त्र
होने देगा सहज स्वतन्त्र?
करो उसे तुम निजतानिष्ट,
करे तुम्हें वह विज्ञ-बलिष्ठ।
सुनो, स्वदेशी शासन मात्र
कर सकता है तुम्हें सुपात्र।
वही बना कर उचित विधान,
बन सकता है न्याय-निधान।
धारण कर संरक्षण-नीति
वही मेंट सकता है भीति।
वही बचा सकता है अन्न
कर सकता है फिर सम्पन्न।

सन्तान-संग

लो पहले इहलौकिक मोक्ष,
पीछे है परलोक—परोक्ष।
करो स्वतन्त्र-संघ संस्थान,
जहाँ सन्त पद हो सन्तान।
हो आदर्श वही संन्यास
करें वहाँ केवल नर-वास।
सुधी साधु ही विज्ञ, वरिष्ठ
हों प्रविष्ट उसमें नयनिष्ठ।
त्यागें वे विषयों के गन्ध,
रख न सकें धन जन-सम्बन्ध।

रक्खें राजनीति का ज्ञान
और समाज-धर्म का ध्यान।
बन न जायँ स्वामीजी मान्य,
सबके सेवक बनें वदान्य।
घर घर घूमें करें प्रचार,
समझावें सबके अधिकार।
राजा कर पावें न अनीति,
प्रजा पाल पावे न कुरीति।
वे सदैव अन्याय-विरुद्ध
करें शूर सैनिक-सम युद्ध।
झेल सकें वे सारे कष्ट,
न हों अहिंसाव्रत से भ्रष्ट।
रक्खें सत्याग्रह, सौजन्य,
रहें राष्ट्र के रक्षक धन्य।
उनका ग्रासाच्छादन-भार
करें राष्ट्र मिलकर स्वीकार
वे उस पर मरने के अर्थ,
प्रस्तुत रहें सदैव समर्थ।
साधु जनों की कहाँ न साख,
हममें हैं वे बावन लाख।
बनें अयुत भी ऐसे सन्त,
तो हो सब अवनति का अन्त
बनकर ऐसा संघ यथार्थ,
करे राष्ट्र-सेवा निःस्वार्थ।
तो विभाग ही बनें स्वतन्त्र,
साधे जो समयोचित मन्त्र।
राष्ट्र-पुरोहित हों वे लोग,
जागें, करें उचित उद्योग।
तो निश्चिन्त गृहस्थ-समाज,
पहले ही जैसा हो आज।
फिर हो वही शान्त-रस-वृष्टि,
आश्रम और तपोवन-सृष्टि।
सिंहों में भी मृग जी जायँ,
एक घाट पानी पी जायँ,

फिर वे मित्र-चक्षु हों प्राप्त,
दीखे सबमें स्वात्मा व्याप्त।
फिर हो पुष्ट पुण्य का पक्ष,
मिले सत्य, शिव, सुन्दर लक्ष।

मायावाद

छोड़ो मौखिक माया-वाद
अलं[1] विषाद और अवसाद।
भव असार ही सही सदैव,
कण्टक किन्तु कण्टकेनैव*।
भूलो इसे न सज्जन, सन्त,
कर्मों से कर्मों का अन्त।
यह संसार साधनाधार*
क्या उपेक्ष्य है किसी प्रकार?
तुम देखो कि न देखो हार,
ताक रहा तुमको संसार।
बाबाजी छोड़ें, पर हाय,
कम्बल छोड़े तब न बसाय!
जहाँ कर्म करके भी लोग,
नहीं चाहते थे फल भोग–
वहीं आज प्रतिकूल प्रवाह,
कर्म न करके फल की चाह!

---

1. अलम्–बस, और नहीं। * काँटे से ही काँटा निकलता है।
* साधना का आधार।

उच्च कुलों का अन्त

लेने से असमय वैराग्य,
शून्य हुआ भारत का भाग्य।
इसके दण्डरूप शत रोग,
रहा अभागा अब तक भोग।
कितने निज जन सुधी सशक्त,
अविवाहित ही हुए विरक्त
परम्परा होने से भ्रष्ट
हुए श्रेष्ठ बल-बुद्धि विनष्ट!
उनका बीज उन्हीं के साथ,
मिटा, हुई यह भूमि अनाथ!
मोती गया, रही बस सीप!
बना बुद्ध-युग बुझता दीप।
गये महाभारत में वीर,
बौद्ध खंग में धीर-गभीर।
शेष भोर के-से नक्षत्र,
रहे राष्ट्र के छाया-छत्र।
हरा भरा वह व्रज सब हाय
यों ही उजड़ गया निरुपाय।
हुए इधर जितने गोपाल,
शेष उसी व्रज के हैं बाल।
श्रीमच्चन्द्रगुप्त, चाणक्य,
विक्रम, शंकर सब कुछ शक्य।
रामदास, शिवराज नरेश,
थे उन शेषों के ही शेष।
क्षात्र तेज वह ब्राह्म विभूति,
लौटे फिर सुन कर कुल-हूति[1],
तो अब भी हत भारतवर्ष,
पा सकता है पूर्वोत्कर्ष।

---

1. हूति—पुकारना।

सन्तान वृद्धि

पर निज दुर्बल सन्तति-वृद्धि,
कर न सकेगी वह क्षति-वृद्धि।
मृत्यु बढ़ावेगी या भृत्य!
भले नहीं वे दोनों कृत्य।
हैं बच्चों के बच्चे व्यर्थ;
न लो सुफल भी कच्चे व्यर्थ।
बनों संयमी, बनों समर्थ;
अपने और वंश के अर्थ।
शिक्षा, दीक्षा, रक्षा-योग्य
प्राप्त करो धन, बल, आरोग्य।
तब उत्पन्न करो सन्तान,
तभी सुगति होगी मतिमान।
निज कुल-दीप आज हैं मन्द?
शिशुओं का रोना तक बन्द!
सर्वदमन थे जहाँ प्रसूत
वहीं—अरे चुप, आया भूत!
शैशव में ही भय का पाठ!
हमें मार जाता है काठ!
बाहर भीतर एक निषेध,
अपनी बलि, अपना गृहमेध!
जब कि नहीं सोते निज बाल,
रोते हैं आँखों के लाल।
हम ऐसे शिशुपाल कराल,
क्षमा करें कब तक गोपाल?
साहस कहाँ, कहाँ उत्साह
नहीं सूझती हमको राह।
शैशव से ही भाराक्रान्त,
हम हैं यौवन में ही श्रान्त।
हैं आलोक-चित्र-पट* डिम्ब[1]
पड़ने दो न बुरे प्रतिबिम्ब।

---

* फोटो लेने के प्लेट। 1. डिम्ब—शिशु, बच्चा।

बीज सदृश शैशव संस्कार
बनते हैं वट वृक्षाकार।
रत्नों में माई का लाल,
जीवन का फल वही रसाल।
करो तनिक करके आयास
उसकी रक्षा और विकास।

निस्सन्तान

यदि अपुत्र हो, ले लो गोद–
कोई संस्था, संघ समोद–
जहाँ राष्ट्र-सुत सौ सौ छात्र
श्रद्धांजलि दें, बनें सुपात्र।

मितव्यय

मितव्ययी हो, कृपण न, आर्य?
नहीं अपव्यय है औदार्य।
ऋण ले लेकर करो न नाम,
यह है चार्वाकों का काम।
न दो आज तुम ऐसा भोज,
कल ही पड़े अन्न की खोज।
सुन कर कहीं एक दिन 'वाह'
करनी पड़े न चिर दिन 'आह'।
करो देव-पितृ-ऋण-परिशोध,–
रक्खो किन्तु वित्त-बल-बोध।
सदय देव-पितरों के अर्थ

कुसीदिकों[1] में फँसो न व्यर्थ।
होंगे देव-पितर तब तुष्ट
जब हों भक्त पुत्र परिपुष्ट।
ऋणी तुम्हें निज हेतु विलोक
होगा उनको उलटा शोक!
ऋण लेकर ऋण से उद्धार
हो न सकेगा किसी प्रकार।
होगा केवल नूतन भार
जिससे पिसें स्वतन्त्र विचार।
नहीं उड़ा देने को द्रव्य,
भव में विभव[2] भाव ही भव्य।
धन है साधन सा साकार,
व्यापक है उसका उपकार।
किन्तु नहीं साधन हो साध्य,
आत्मभाव ही है आराध्य।
गणिका-रूप-तुल्य वह अर्थ
छोड़ो जो कर उठे अनर्थ।
करें समाज विधान न बाध्य,
वे हों सहज, सौम्य[3], सुख साध्य।
चलो अवस्था के अनुकूल,
कभी अपव्यय करो न भूल।
कहीं फँसाकर गला कि हाथ
नाक रख सकोगे गृहनाथ?
ऋण का बोझा सिर के संग
क्यों न तुम्हारा हो कटिभंग!
जीवन की चिन्ता में लीन,
मरते हैं हम जीवन-हीन!
भीतर रहे होलिका-दाह,
बाहर दीवाली की चाह!
जन्म-विवाहों पर हम झूम
कर दें ऋण लेकर भी धूम।
तनयों के तन-मन की पुष्टि

1. कुसीदिक—सूदखोर। 2. विभव—धन। 3. सौम्य—सुन्दर।

कैसे करें बँधी है मुष्टि!
विपुल कुटुम्बी वित्त-विहीन—
हिन्दू की गतियाँ हैं तीन—
जन्म-मृत्यु के बीच विवाह,
है बस हरि के हाथ निबाह!
रक्खो घर की ऐसी चाल,
सको दृष्टि बाहर भी डाल।
अपनी ही चिन्ता में व्यस्त,
भूल गये तुम और समस्त।

भीतर

वैष्णव-शाक्त वैदिक-स्मार्त,
फिर भी हम क्यों आतुर आर्त्त?
घर में प्रेतों का उत्पात,
न हो बाल-बच्चों का घात!
निज शुचिता के मद में चूर,
'अधम अछूतों' से हम दूर।
फिर कैसे आयी यह छूत,
घर में घुस आये जो भूत?
साईं साहब को बुलवाव!
कुछ दिन उन्हें यही सुलवाव!!
दौड़ो झट तकिया में जाव!
मन्नत मानों, भेंट चढ़ाव!!!
सगुण और निर्गुण को छोड़,
त्याग देव तैंतीस करोड़।
पूजो मूढ़ो, मियाँ मदार;
तजो बोधितरु[1], भजो मदार[2]!
पर न जायगा यह गृह-भूत,

1. बोधितरु—पीपल। 2. मदार—आक।

कहाँ पायगा ऐसे ऊत?
सम्भव है आवे वह योग,
निकल जायँ घर के ही लोग।
हिन्दू हाय! तुम्हें धिक्कार!
क्यों न हँसे तुम पर संसार?
विधर्मियों का जादू-जाल
जिन पर चले, मरें वे लाल।
क्यों न तुम्हारे घर हों खेत
एक नहीं उनमें सौ प्रेत।
कूड़ा कर्कट, सील, कुवास,
सड़ा पनाला, मैला पास!
रात मच्छरों का उत्पात
दिन में भिन भिन, घिन घिन घात
रहे न तुम इतने भी छार,
सको मक्खियाँ भी जो मार!
सोना और जागना पाप!
हुआ तुम्हें किसका अभिशाप?
रह जाओ कह कर—"हा दैव"
बस "बेताल पुनस्तत्रैव"!
तनिक शून्य से निज मुख फेर,
छोड़ अदृष्ट-पिण्ड कुछ देर,
डालो निज कर्मों पर दृष्टि,
सूजी तुम्हीं ने यह भय-सृष्टि!
बिगड़ी है गृह-दशा नितान्त,
कैसे रहें कहो ग्रह शान्त?
छोड़ो अब भी अरे प्रमाद[1],
है निज नास्तिकत्व विधि-वाद!

---

1. प्रमाद—असावधानी।

बाहर

आओ, घर से बाहर बन्धु,
नहीं यहाँ पर नाहर बन्धु!
स्वच्छ समीरण में लो साँस,
न यों सड़ाओ अपना मांस।
देखो तनिक घूम कर लोक,
तुम्हीं विचरते थे बेरोक।
देते थे सबको उपदेश,
कहाँ न थे आर्योपनिवेश?
हुआ भ्रमण भी तुमको भार,
अचल तुम्हारा है संसार!
आज तुम्हारी गति है रुद्ध,
कैसे रहे कहो मति शुद्ध?
जब तक था पानी कि प्रभाव,
तब तक चली तुम्हारी नाव।
अब अगम्य है रत्नागार,
फिर कैसे हो बेड़ा पार?
न डरो, जाति न होगी भ्रष्ट,
बढ़ो, करो यह जड़ता नष्ट।
यात्रा के अनुभव आनन्द,
प्राप्त करो विचरो स्वच्छन्द।
देखो औरों के उद्योग
शिक्षा लो, छोड़ो न सुयोग।
किया किये तुम पारा बिद्ध,
बाहर हुई रसायन सिद्ध!
जानो देश देश की चाल,
दृष्टि सूक्ष्म हो और विशाल।
समझो सबकी बातें चार
रीति-नीति, आचार-विचार।
इहलौकिक उन्नति कर अन्य,
उड़ते हैं अम्बर में धन्य।

असमय में ही तज निज ओक[1]
तुम चल देते हो परलोक।
देखो कुछ औरों की शक्ति
करो तनिक तो आत्मविरक्ति।
बनो आर्य मत मूँछ उमेंठ
रस्सी जली न छूटी ऐंठ!
रहकर विजातियों से भिन्न,
आपस में ही सब विच्छिन्न।
पाया तुमने समुचित दण्ड,
ईश्वर सहता नहीं घमण्ड।
उस भगवत की सारी भूमि,
न्यारी नहीं तुम्हारी भूमि।
'म्लेच्छ देश' में भी विश्वेश,
बना वहाँ विज्ञान-निवेश।
निज दूषण भी सद्गुण-कोष,
विजातीय गुण भी हैं दोष।
होता है जिससे यह भान
झूठा है वह जात्याभिमान।

भूल-सुधार

समझो अब भी अपनी भूल,
मिट जाओ जिसमें न समूल।
रख कर किसी एक पर भार,
मत सोओ सब पैर पसार।
डूबे यदि क्षत्रिय दुर्द्धर्ष,
तो डूबा सब भारतवर्ष।
क्या कर सके अन्य सब वर्ण?
बैठे विवश दबा कर कर्ण।

---

1. ओक—आश्रम, घर।

"कोउ नृप होइ हमें का हानि,
चेरी छोड़ि न होउव रानि।"
यह चेरी का ही प्रस्ताव,
नृप क्या, हम में सोहम् भाव!

मोह

तजो कुपन्थ मन्थरा-रूप
है प्रच्छन्न पास ही कूप।
कैसे हो कोई भी भूप?
वह है प्रजा-प्रेम-बलि-यूप।
किन्तु कहाँ से आया ओह!
हम में ऐसा माया-मोह।
चेरी की ही बातें मान,
हम चेरे हो गये निदान।
उदासीनता में ही लीन,
हम औरों के हुए अधीन।
वे ही हम, जो बुद्धि-निधान,
करते थे गण तन्त्र-विधान!
वे ही हम जो शुभ मन्त्रेश,
चुनते थे वे गण-तन्त्रेश—
होती थी जिनकी सन्तान
महावीर या बुद्ध-समान*।
करो आर्य-गण अपना ध्यान,
न करेगी चेरी कल्याण।
कुमति केकई भी है त्याज्य,
होगा नाश, न होगा राज्य!

* कहते हैं महावीर स्वामी और बुद्ध भगवान के पिता गणतन्त्र के ही अधीश्वर थे।

युग का रोना

कलि-कलि कर बैठो न निराश,
पहनो स्वयं न उसका पाश!
पहले भी थे राक्षस दैत्य,
कब निर्विघ्न चले मठ, चैत्य[1]।
निगृह[2] होने पर भी नित्य
करता है निसर्ग[3] निज कृत्य।
पर वरत्व[4] ही है वरणीय;
नहीं अबलता अनुकरणीय।
प्रवृत्तियाँ हैं मन के संग।
जन जन में जीवन के संग।
सामंजस्य - असामंजस्य*,
जीत हार का यही रहस्य।
अपना मन है जिनके हाथ,
जीवन-जय है उनके साथ।
कोई युग हो, कोई लीक,
उनको कहीं न दुःख न शोक।
कहीं कहीं सत युग भी तर्ज्य[5]।
आज पूर्व-विधियाँ बहु वर्ज्य[6]।
बनो विवेकी विश्रुत हंस,
जल छोड़ो, पय पियो प्रशंस।
यों जीवन भी भार विकार,
तो क्या है मरना ही सार?
सच तो यह है कि हो समर्थ,
तजो कलह-कलि-चिन्ता व्यर्थ।
शक्ति वस्तु है वह विख्यात,
कि हो दोष भी गुण-सा ज्ञात।
बना डिठौना चन्द्र-कलंक,

---

1. चैत्य—देवस्थान, यज्ञशाला। 2. निग्रह—प्रवृत्तियों की रोकथाम। 3. निसर्ग—प्रकृति, स्वभाव। 4. वरत्व—वर का भाव और श्रेष्ठता। * औचित्य और अनौचित्य।
5. तर्ज्य—तर्जनीय, 6. वर्ज्य—वर्जनीय।

सगुण विगुण भी है निःशंक।
देश, काल, युग, उदय कि अस्त,
आप भले तो भले समस्त।
सफल करो निज मानव-देह,
यही देव या दानव-देह।
छोड़ो 'क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य,'
निकले स्वयं शोच का शल्य[1]।
डरो न युग से हटो समक्ष;
अक्षय है आत्मा का पक्ष।
तुमको है विश्वास सुजान।"
तो "कलजुग सम जुग नहिं आन।"
उसका ही यह पुण्य प्रताप—
"मानस पुण्य होहिं, नहिं पाप"

मन

कब तक है यह पर-अवलम्ब?
जब तक तुम्हें इष्ट सविडम्ब!
कै दिन किसे कौन अविनीत
चला सका मन के विपरीत!
मन के लिए लगन दो एक,
मगन रहे वह, रक्खे टेक।
इतने से ही तुम कृतकृत्य;
करती रहे नियति निज नृत्य
मन को एक केन्द्र मिल जाय,
तो इन्द्रासन भी हिल जाय।
इतना करो किसी भी तौर,
स्वयं करा लेगा मन और।
दो मन पर मानिक भी तौल,

1. शल्य—भाल, गाँसी।

बेचो उसे न, कौड़ी मोल।
भाई, इसे न जाओ भूल—
मन ही बन्ध[1]-मोक्ष का मूल।

लीक

आँखें मूँद न पीटो लीक;
सोच समझ देखो तुम ठीक।
करो न असमय का आलाप,
जो तुमको ही रुचे न आप।

रूढ़ि

रूढ़ि बिना जड़ की वह बेल,
चूस रही जीवन-रस खेल।
करो कर सको यदि तुम त्राण,
जायँ न निगमागम* के प्राण।

शास्त्र

रूढ़ि-बद्ध हो जायँ न शास्त्र,
कीट न काट जाय धर्मास्त्र।

1. बन्ध—बन्धन। * निगम—वेद। आगम—शास्त्र। अथवा अगम-वृक्ष (वेद रूपी वृक्ष)।

काई निकले, झलके नीर,
जागे निज जीवन गम्भीर।
शास्त्र अखिल अर्थों के मूल,
व्याख्या है निज बुद्धयनुकूल।
जो करना हो कर लो सिद्ध,
वह हो चाहे स्वयं निषिद्ध।
सड़ी सड़ी बातों का मोह;
आधारों का ऊहापोह,
बना न दे बकवादी भेक;
धारण करो स्वतन्त्र विवेक।
शास्त्र तुम्हारे लिए अशेष,
बनो न तुम उनके बलि-मेष।
सुनो प्रमाण शान्ति के साथ,
पर निर्णय हो अपने हाथ।
जितने भी हैं शास्त्र-ग्रन्थ,
दिखलाते हैं केवल पन्थ।
पर पाथेय और गति शक्ति,
संग्रह करें स्वयं सब व्यक्ति।
किस मुँह से शास्त्रों की ओट,
लेकर सहें युक्ति की चोट।
जब हम छोड़ उन्हीं का धर्म
करते हैं उलटे बहु कर्म?
"बोलो झूठ न" अक्षर पाँच,
लिए शास्त्र में हमने बाँच।
मान लिए बस पहले चार!
चला कौन सबके अनुसार!
यही हमारी शास्त्र-प्रीति!
यही तर्क करने की रीति।
हम हैं आश्रम-धर्म विहीन,
फिर भी वेद-वाद में लीन!
बन कर पूर्वज-सदृश समर्थ,
नयी समस्याओं के अर्थ।
करो नयी विधियाँ निर्माण,
समय स्वयं है बड़ा प्रमाण।

समयोचित न समझते सूरि[1]
तो क्यों भिन्न स्मृतियाँ भूरि।
रचते रहते यहाँ नवीन,
तुम वैसे ही बनो प्रवीण।
भुसी फटक देते हैं सूप,
तुम तो हो चिर चेतन-रूप।
हुई चेतना चलनी शोक!
सार फेंक रखती है फोक।
अपने शास्त्रकार मतिमान,
देश काल से न थे अजान।
उठो, अवस्था के अनुसार,
करो व्यवस्था स्वयं विचार।
भिन्न पुराण स्मृतियाँ वेद,
मुनियों में भी बहुमत-भेद।
करके प्रकट परिस्थित-बोध,
बनो स्वयं साक्षी विधि शोध।
त्यागो मुनि-मत भी प्रतिकूल,
करते बड़े बड़ी ही भूल।
बुद्धि शरण लो, न हो उदास,
तुम में प्रेरक प्रभु का वास।
उपादेय हो और सयुक्ति,
मानों बालक की भी उक्ति।
ब्रह्म-वाक्य भी जँचें न ठीक
तो तुम जानों उन्हें अलीक।
सज्जन-मत है स्वतः प्रमाण;
वही शास्त्र-रत्नों का शाण।
पौरुष हो, पर आर्ष-समान
दो उसको तुम आदर-मान।
मार्ग बड़ों का हो स्वीकार्य,
पर वह रहे परिष्कृत[2] आर्य।
करो अकण्टक उखको झाड़,
भरो गर्त्त झंखाड़ उखाड़।

---

1. सूरि—पण्डित। 2. परिष्कृत—सुधारा हुआ।

माता पिता वृद्ध बल-हीन
पत्नी पतिव्रता शिशु दीन
करके भी अकार्य भर्त्तव्य,
समय समय का है कर्तव्य।

उपचार

धर्मोद्धार, समाज-सुधार,
करो हृदय में दृढ़ता धार।
होने पर विस्फोट[1]-विकार,
अस्त्र-योग भी है उपचार।
दम्भ, महाडम्बर, पाखण्ड,
सन्निपात सम चण्डोद्दण्ड*—
करते हैं सुधर्म का नाश,
काटो यह त्रिदोष मय पाश।
कुल-गत नहीं, व्यक्ति-गत वीर्य;
ऐसा ही सब गुण-गाम्भीर्य।
नहीं शीश पर जिनके सींग,
वे चाहें तो मारें डींग!
द्विज-सा देवप्रिय चाण्डाल,
यदि वह है स्ववृत्ति-व्रत पाल।
नहीं वित्त विद्या अनिवार्य,
वृत्त बनाता है बस आर्य।
दीपक से भी कज्जल-जात[2],
और पंक से भी जलजात[3]।
एक डाल में काँटे-फूल,
जाति नहीं गुण मंगलमूल।

---

1. विस्फोट—विषैला फोड़ा। * चण्ड—कठोर, उद्दण्ड—मारने को उद्यत।
2. जात—उत्पन्न। 3. जलजात—कमल।

चौका

किस पर वह चौका, वह चाक?
बनता वहाँ मृतक पशु-पाक!
ऐसे कर्म और यह ढोंग,
'द्विजश्रेष्ठ' हो तुम या पोंग?
चौका करे, जला दे आग,
अदहन धरे, जला दे साग।
गूँदे, बेले धीवर वर्य,
सेंक न सके किन्तु, आश्चर्य!
उस बेचारे को यह भेद,
बतला दे कोई भी वेद।
शूद्र और वेदों का नाम?
दूषित न हो ऋचा हे राम!
पर वह कैसा पावन मित्र,
जो हो जाय आप अपवित्र?
न हो अरे तुम जड़ता-लिप्त,
समझो प्रकृति और प्रक्षिप्त।
मनन करो मुनियों के मन्त्र,
शूद्र वही हैं जो परतन्त्र।
रखता है वह किंकर-वार[1]—
'किं करोमि' का ही अधिकार।
न तो श्रेष्ठ है सब प्राचीन,
और निकृष्ट न सभी नवीन।
करें परीक्षा गुणिगण गूढ़,
मरें रूढ़ि पर-मत पर मूढ़।
सुन कच्ची-पक्की की टेक,
बोला आतिथेय[2] हँस एक—
"कच्ची हो तो देना फेंक।
दूँगा तुम्हें खरी-सी सेंक!"
मेंटो वर्णों के उपभेद,

1. वार—समूह। 2. आतिथेय—अतिथि सत्कार करनेवाला।

बढ़े मेल मिट जावे खेद।
रुचि बदले हो सब का मान,
रुचि पर ही है भोजन-पान।
मनु ने कहे वर्ण बस चार
सुन लो पंचम वर्ण नकार*।
सन्निकर्ष[1]-वर्णों का इष्ट,
वही संहिता-भाव विशिष्ट!
दीर्घ बनो कर सन्धि सवर्ण,
सुनें मिले स्वर सबके कर्ण।
गौरव और गान लय युक्त,
कण्ठ तुम्हारे हों उन्मुक्त।

प्रगति

बढ़ो धैर्य साहस के संग;
देखो जल के सकल तरंग।
बढ़ते हुए विशेष प्रकार,
पा जाते हैं निश्चय पार।

सम्बल

न हो, नहीं यदि धन कुछ पास
रक्खो भुजबल का विश्वास।
सच्चा धन तो है बस धर्म,
जो हिन्दू का जीवन-मर्म।

---

* नहीं, न अक्षर। 1. सन्निकर्ष– समीपता।

आत्म-गौरव

आभूषित हो, या कि अकन्थ,
रखो कोई मत या पन्थ।
पर तुम हो हिन्दू-सन्तान
रहे तुम्हें इसका अभिमान।
हिन्दू का विचार-संसार,
अतुल, असीम, अनन्त, अपार।
तो नास्तिक भी कपिल*-समान,
रक्खो तुम हिन्दू-कुल-मान,
आस्तिक हो तो लो प्रभु-नाम,
और करो प्रभुता के काम।
नास्तिक हो तो भी आज जाव,
बुद्ध-शरण, संघाश्रय*, पाव।
तुम तो कुछ भी नहीं परन्तु,
यों वनमानुस भी हैं जन्तु!
क्या आस्तिक या नास्तिक, शोक,
नष्ट तुम्हारे दोनों लोक!
तुम भिक्षुक हो, तुम हो दास!
दुर्बल, दीन-दरिद्र, उदास।
जीवन से निराश निर्णीत[1],
और मृत्यु से कम्पित भीत।
अमर-वर्ग का है परलोक,
नर वीरों का है नर लोक।
निपट नपुंसक अलस अतीव,
तुम हो जीवित ही निर्जीव!
हिन्दू, कब तक यह अपमान
सहन करोगे सहज-समान?
अरे, उठो, कह दो फिर आर्य,—
मरेंगे कि साधेंगे कार्य।
क्लीव* अनुष्ण अलस अविनीत,
शंका - शील लोक - रव - भीत

---

* सांख्य शास्त्र कर्ता। * संघ—समूह, आश्रय; अवलम्ब। 1. निर्णीत—निश्चित।
* संस्कृत के आधार पर।

देखा करते हैं बस बाट,
उन्हें चाट जाती है खाट!
अंगन* वेदी वसुधा सर्व,
कुल्या-तुल्य पयोनिधि खर्व,
होते हैं उस जन के अर्थ
जो है कृतप्रतिज्ञसमर्थ।
स्वयं* स्वर्ण-मल्ली सी भूमि,
और कल्प-वल्ली सी भूमि।
चुनने वाले जन हैं चार,
शूर, कुशल, कृतविद्य, उदार।
अपने* को अजरामर जान
प्राप्त करो विद्या-धन-मान।
और समझकर सिर पर काल,
पालो अपना धर्म विशाल।

अपनी संस्कृति

अपनी संस्कृति का अभिमान,
करो सदा हिन्दू-सन्तान।
सब आदर्शों की वह खान,
नररत्नत्व करेगी दान।
अपनी चिर संस्कृति की मूर्ति,
है मनुष्यता की परिपूर्ति।
प्राणरूप उसका पुरषार्थ,
साधन करता है परमार्थ।
युग युग के संचित संस्कार,
ऋषि-मुनियों के उच्च विचार,
धीरों, वीरों के व्यवहार,
हैं निज संस्कृति के श्रृंगार।

* संस्कृत के आधार पर।

शक्ति-संचय

आत्म-संघटन करो सयुक्ति,
हिन्दू तुम्हें मिलेगी मुक्ति।
आवेगी तुम में वह शक्ति,
जिस पर हो सब की अनुरक्ति।
कह दो सबसे यही पुकार–
करते हैं हम आत्मोद्धार।
होंगी सब बाधाएँ व्यर्थ,
पर भय नहीं किसी के अर्थ।
तुमसे, है इतिहास प्रमाण,–
हुआ भुवन भर का कल्याण।
रहे वही अपना ध्रुव लक्ष्य,
है हिन्दुत्व इसी से रक्ष्य।

समन्वय

होकर निज जीवन जड़, रुद्ध,
रहा वद्ध जल-सदृश न शुद्ध।
करो परिष्कृत उसका स्रोत,
फिर भी हो वह ओतप्रोत।
पुर, पत्तन हो अथवा ग्राम,
हों सर्वत्र समन्वय[1] धाम।
जुड़ें जहाँ सब मत के लोग,
साधन करें एकता योग!
भाषण, गीत, कवित्व, विनोद,
हुआ करें, पावें सब मोद।

1. समन्वय–संगति, संयोग; मिलन।

क्रीड़ा-कौतुक, उत्सव-खेल,
साधन करें परस्पर मेल।
स्मित हों मातृभूमि के ओष्ठ,
देख देख निज सन्तति-गोष्ठ[1]।
आर्य बाल गोपाल सचेष्ट,
कामधेनु भी दुहें यथेष्ट!
पालो परम धर्म है प्रेम;
वारो उस पर भारों हेम[2]।
एक प्राण मय हों सब अंग,
साधो मिलन और सत्संग।
होकर भी विभिन्न मत-निष्ठ,
वन सकते हैं बन्धु वरिष्ठ।
मिलें लौट कर यदि सविवेक,
तो हैं तीन और छह एक।

अन्य जातियाँ

देख तुम्हारा यह उद्योग,
न हों सशंक दूसरे लोग।
'सर्व भूत हितरत' निज धर्म,
हैं अभिन्न हम सबके मर्म।
पावें सभी प्रबोध, प्रमोद,
खेलें भारत माँ की गोद।
मिटें परस्पर के सन्देह,
उपजें साम्य भाव सस्नेह।

1. गोष्ठ—संघ, समूह और गोशाला। 2. भार—आठ हजार तोले का परिमाण।

अंगरेजों के प्रति

सुनें प्रथम शासक अंगरेज़,
जो कहने करने में तेज।
यदि सचमुच तुम योग्य, उदार
तो पावें हम निज अधिकार।
अब भी यदि अयोग्य हम लोग,
तो असाध्य तुमसे यह रोग।
और दूर से तुम्हें प्रणाम,
रहे हमारा रक्षक राम।
प्राप्त हुए किस पद का भार—
हम न सँभाल सके प्रति वार?
डाल दिये कब हमने स्कन्ध?
कर न सके हम कौन प्रबन्ध?
क्या शासन, क्या न्याय विभाग,
क्या यूरप की-सी वह आग,
(जिसमें जले जगत के वीर)
सिद्ध हुए हम कहाँ अधीर?
स्वयं जगा कर नूतन भाव,
दिखलाओ न हठीले हाव।
मेंटो उनकी क्षुधा नितान्त,
तभी रहेंगे हम तुम शान्त।
निज शासन-सेवा का मोल,
लेते हो जो तुम जी खोल।
देकर उसे, बाप रे बाप!
बिके जा रहे हैं हम आप!
किसकी रक्षा को सरकार,
इतनी फौजों की दरकार?
देते हैं मच्छर तक दंश,
मिटते यहाँ वंश के वंश!
मलेरिया, हैजा, दुष्काल,
और शीतला-कोप कराल,
आज इन्फ्लुऐंजा, कल प्लेग,
कालचक्र चल रहा सवेग!

कोटि कोटि कीटाणु कठोर,
घेरे हैं हमको सब ओर।
तिस पर भी हम शिक्षा-हीन,
भोग रहे हैं दुर्गति दीन।
मरे नशों का मारा मुल्क,
पर उनसे मिलता है शुल्क।
शिक्षा और स्वास्थ्य के अर्थ,
बजट बना रहता असमर्थ!
अनुभव करो हमारे भाव,
यही हमारा है प्रस्ताव।
कुछ अवश्य है जो हम लोग,
तज दें शासन का सहयोग।
करके कोई यों ही खेल,
जाना नहीं चाहता जेल।
है अवश्य कुछ विधि बेजोड़,
दें जो हम विधान तक तोड़।
वह शासन है स्वयं कलंक,
जिसमें जन हों दिन दिन रंक।
भूखों मरें, न पावें वस्त्र,
हो जावें निर्बल-निःशस्त्र।
छोड़ो अमन चैन की भ्रान्ति,
यह है मृतकों की-सी शान्ति!
फैला है भीषण आतंक,
रहते हैं जन सभय सशंक।
नैतिक और मानसिक ह्रास,
बना रहे हैं हमको आस।
अर्थी नहीं देखते दोष,
सभी कराती क्षुधा सरोष।
समझो व्यथा हमारी वीर,
कि हम कहाँ तक हुए अधीर।
व्यर्थ किन्तु तज जीवन-मोह,
करते हैं जब तब विद्रोह।
इसका कारण सोचो हाय!
पतित न हों हम, करो सहाय,
हम हैं विवश, यही अपमान

हमें भुला देता है भान।
निर्बल होने से सविशेष,
करते हैं हम ईर्ष्या-द्वेष।
हमें सबल होने दो शूर!
कि हम कर सकें उसको दूर।
और कर सकें निर्भय प्रेम,
जिसमें है क्षोणी का क्षेम।
पावें हम दोनों अवकाश,
करें संकुचितता का नाश।
घृणा और बदले के भाव,
कर न सकें हम में घर घाव।
हों करुणा करने के योग्य,
क्षमा-भाव भरने के योग्य।
बातें ही मीठी ज्यों ऊख,
मिटा नहीं सकती हैं भूख।
दो दायित्व हमें परिपूर्ण;
हो अनात्म विश्वास विचूर्ण।
डूब रहे हम, डूब न जायँ,
इस जीवन से ऊब न जायँ,
बनो समय-सागर के सेतु;
राजा स्वयं काल का हेतु।
दो सुयोग, लो पाणिस्पर्श,
सफल करें हम निज आदर्श।
न हो और बाधक हे तात,
तुम असाध्य-साधक विख्यात।
लो यश या अपयश इस ओर,
न्याय करो या दमन कठोर।
हम निश्चित हैं कृतसंकल्प,
लेंगे क्या स्वराज्य से अल्प!
और न पिछड़ो करके देर,
हो कृतकृत्य धरोहर फेर।
सच्चे हो तो हो सन्नद्ध,
तुम हो देने को प्रणबद्ध।
ऐसा करो कि रस रह जाय,
आपस में कुछ बस रह जाय।

वंचित करे न तुमको लोभ,
हमें पथच्च्युत करे न क्षोभ।
शासन में है दारुण दोष,
पर तुम गुण रत्नों के कोष।
उस पर है कितनी भी खीझ,
किन्तु हमारी तुम पर रीझ।
हे अंगरेज, सुनो सस्नेह,
प्रीति योग्य तुम निस्सन्देह।
तुमसे कुशल जनों का संग,
देगा किसे न ओज-उमंग।
पर समता रखती है प्रीति,
सहन नहीं कर सकती भीति।
वह अनियन्त्रित सत्ता मेंट,
देंगे हम मैत्री की भेंट।
आवे वह दिन आवे शीघ्र।
यह सब भय मिट जावे शीघ्र।
प्रकटित हो जब तक वह योग,
यही मनाते हैं हम लोग–
ब्रिटिश-सिंह, तुम रहो वरिष्ट,
बन कर किन्तु नागरिक शिष्ट।
मरो वन्य बल पर मत धीर,
जियो और जीने दो वीर!
हों असवर्ण हमारे चर्म,
पर सवर्ण हैं शोणित मर्म।
मन दौड़े तो बिना प्रयास,
पूर्व और पश्चिम सब पास।
हिन्दू हिन्दू सुनो सचेत,
आओ, हो जाओ समवेत।
तुम स्वतन्त्रता के हो पात्र,
उच्छृंखलता खलती मात्र।
न्याय चाहते हो तो आप,
रहो नित्य न्यायी, निष्पाप।
हिंसा है पशुता का नाम,
अविचलता है अपना काम।

पारसियों के प्रति

सुनो पारसी बन्धु प्रवीण,
क्या अपने सम्बन्ध नवीन?
वेद-अवस्ता दो ही नाम
पुरातत्त्व के हैं विश्राम।
इष्ट हमें हैं वे ही प्राण
जो कर सके तुम्हारा त्राण।
तज कर जब तुम अपना स्थान,
भग आये थे हिन्दुस्तान।
अब क्या वह साहस वह शक्ति,
दे सकती है तुम्हें विरक्ति?
करते हैं हम जीवन-याग,
जीती रहे तुम्हारी आग।

मुसलमानों के प्रति

मुसलमान भाई, हो शान्त;
सोचो तुम्हीं तनिक एकान्त।
तुम निज हेतु करो सब कर्म,
और छोड़ दें हम निज धर्म?
रहे तुम्हारा कुछ भी बोध,
हमको तुमसे नहीं विरोध।
मातृभूमि का नाता मान,
हैं दोनों के स्वार्थ समान।
तनिक विचारो, न हो विरक्त,
तुममें भी है हिन्दू रक्त।
यदि तुम भूलो न यह विवेक,
तो हम तुम हैं कितने एक!
डालो अपने ऊपर दृष्टि,

तुम अधिकांश यहीं की सृष्टि।
तुम हिन्दू हो, धार विधर्म,
भूल गये हो निज कुलकर्म।
करो पूर्व संस्कृति की याद,
मिटें सभी विद्वेष विषाद।
तुम अभिन्न हो, न हो विभिन्न,
रहो न हम अपनों से खिन्न।
इतने पर भी न हो प्रबोध,
तो तुम लो अपना पथ शोध।
और चलो उस पर सानन्द,
फिर भी आँखें करो न बन्द।
उचित न होंगे वे विभ्राट,
जैसे मलाबार—कोहाट।
आपस का विरोध या ग्लानि,
करती है दोनों की हानि।
हुए हमारे मन्दिर नष्ट,
करते गये उन्हें तुम भ्रष्ट!
किन्तु मिले जब हमें प्रसंग,
हुई मसजिदें कितनी भंग?
यह है निज संस्कृति का भेद,
अब तुम गर्व करो या खेद।
औरों के भावों का ध्यान,
है मनुष्य-गौरव का ज्ञान।
सावधान, सोचो हो शान्त;
दिखलाओ न बुरे दृष्टान्त।
देख तुम्हारी करनी नित्य!
कर न उठें हम भी वे कृत्य।
श्रद्धानन्द-सदृश अपघात,
सिद्ध कर रहे हैं क्या बात।
शास्त्र लिये हो तुम या शस्त्र?
हैं रक्ताक्त तुम्हारे वस्त्र!
ऐंठ रहे हो जिन पर मूँछ,
उन्हें तुम्हारी है क्या पूँछ।
जहाँ पड़ी हो अपनी फिक्र,

वहाँ दूसरों का क्या जिक्र।
देखो अरब और ईरान,
आप हो रहे हैं वीरान!
हुई मदीने की भी खैर,
कौन तुम्हारा, गर हम गैर?
पढ़ो जरा टरकी का हाल,
क्या काफिर हो गया कमाल?
नहीं नहीं, वह हुआ प्रबुद्ध,
तुम्हीं रूढ़ियों में हो रुद्ध!
जागो तुम भी जागो बन्धु,
त्यागो जड़ता त्यागो बन्धु!
देखो तुम न दूर के स्वप्न,
वे हैं समी सूर के स्वप्न।
मरो न मन मोदक पर सूख,
मातृभूमि मेटेगी भूख।
यहीं तुम्हारे पुत्र-कलत्र,
फिर सुख-शान्ति कहाँ अन्यत्र!
पुण्यभूमि है यही पुनीत,
गाते हो तुम किसके गीत?
उच्चादर्श कौन किस ठौर,
पा न सको जो तुम इस ठौर।
कहीं मरुस्थल, कहीं अनूप[1],
कहीं निदाघ, कहीं हिम रूप।
लिये खेत, खनि, जांगल, पौर,
भारत भव-सा श्यामल गौर।
सुलभ अरब के यहाँ खजूर,
दुर्लभ नहीं सेब, अंगूर।
पर वे आम—सुफल सिर मौर,
सुलभ यहीं हैं, कहीं न और।
रक्खो तुम असि का अभिमान,
है उसका भी उच्च स्थान।
किन्तु नहीं है यह ईमान,
कि बस रहे अपना ही ध्यान।

---

1. अनूप—सजल देश।

तुम हो वीर बली विक्रान्त,
किन्तु न हो भाई, तुम भ्रान्त।
प्रकृत वीरता के व्यवहार,
होते हैं अत्यन्त उदार।
तुममें है साहस परिपूर्ण,
जगे स्वतन्त्र बुद्धि भी तूर्ण।
यदि है न्याय तुम्हारा लक्ष,
तो तुम हो जाओ निष्पक्ष।
हमें तुम्हें रहना है साथ,
सुख-दुख सब सहना है साथ।
हिलमिल कर रहने में श्रेय,
और उसी में अपना प्रेय।
करते हों हम जिनमें वास,
प्राप्त करें उनका विश्वास।
तभी हमारा उनका क्षेम,
पर, उदारता-प्रिय है प्रेम।
ठहरो हे विध्वंसक वीर,
मत हो आतुर और अधीर।
मन्दिर में भी उसकी भक्ति,
मसजिद में जिसकी अनुरक्ति।
करो द्रोह-दुर्बलता दूर,
शूर नहीं होते हैं क्रूर।
आओ, भक्त भक्त मिल जायँ,
सरस सुमन-सम मन खिल जायँ।
उस प्रियतम की प्रतिमा एक,
पाने को अपना अभिषेक।
सबके उर में है आसीन,
जो हैं भक्तिभाव में लीन।
सब निज निज मति के अनुसार,
अपने प्रभु का एकाकार,
रखते हैं सम्मुख सविवेक,
स्वाभाविक है यह उद्रेक।
कहते हो जब—"न्याज़ऽल्लाह"
अपनी तुम जानों वल्लाह!

एक सौम्य, शुचि, शोभन चित्र,
हमें भूल जाता है मित्र!
बसा बुतों में है महबूब,
उन्हें मिटाते हो क्या खूब!
यह काफिर कुदरत की छाप,
लग जाती है अपने आप।
पीटें लीक भले ही ऊत,
तुम हो शायर, सिंह, सपूत।
बनों न स्वार्थान्धों की भेड़,
पटकें कहीं न तुम्हें खदेड़।
सुविदित है एकेश्वरवाद,
सुनों और भी—सोऽहं नाद।
गूँजा यहाँ तत्वमसि गान,
निकली वहाँ अनहलक तान!
भक्त भावना के अनुरूप,
रखता है वह भी तनु रूप।
किसी नाम से करो प्रणाम,
अंगीकार करेगा राम।
किन्तु हाय! हरिमन्दिर छोड़,
और देव तैंतीस करोड़,
बनते हैं हम कब्रपरस्त,
भाई, तुम हो सब्रपरस्त।
गावकुशी? मरजी की बात!
सोचो किन्तु तनिक हे तात!
अर्थ-धर्म का है यदि कार्य,
तो गोकुशी नहीं अनिवार्य।
तब भी तुम यदि सको न रोक,
तो क्या दिखलाओ भी? शोक!
लेना वृथा किसी की आह,
यह तो नहीं खुदा की राह!
कुर्बानी, पर किसकी? आह!
सहज नहीं उसका निर्वाह!
हो जाओ उस पर कुर्बान,
जिसने सबको बख्शी जान।

धन्य मयूरध्वज-सा धीर,
किंवा रुक्मांगद-सा वीर,
योद्धा इब्राहीम महान,
जो कर गया मोह बलिदान!
स्वयं हमारा उसे प्रणाम,
कुर्बानी है इसका नाम।
इन पशुओं का शोणितपात,
ला सकता है क्या वह बात,
दम्भ-दुराग्रह, द्वेषद्रोह,
धन-जन-जीवन का भी मोह।
करो स्वविभु के सम्मुख त्याग,
यही बड़ी बलि है बड़भाग!
ऊँटों की कुर्बानी बन्द
की थी हजरत ने सानन्द!
क्योंकि अरब का धन थे ऊँट,
वहाँ सर्व साधन थे ऊँट।
मुसलमान भाई, हो शान्त,
मानों हजरत का सिद्धान्त।
भारत का धन गोधन मात्र,
है पहले रक्षा का पात्र।
पियो न प्यारे, उसका खून,
कि जो दूध दे दोनों जून।
छोड़ो उस शोणित की चाह,
बहने दो फिर पयः-प्रवाह।
दूध पिलाने वाली गाय,
सबकी जीवन भर की धाय।
न हो भाइयो, उस पर क्रूर,
दूध-पूत पाओ भरपूर।
काबुल में भी गो-वध बन्द,
वह काफिर हैं या स्वच्छन्द?
नहीं वहाँ बाजों की रार,
नये मुसल्माँ हो तुम यार!
कर दें हम निज कीर्त्तन बन्द,
तुम्हीं अजानें दो स्वच्छन्द।

करो भाइयो, तुम्हीं विचार,
चल सकते हैं ये व्यापार?
लगा अली के तन में तीर,
बोला कुछ व्याकुल हो वीर—
''इसे खींचना वक्त नमाज़''
छिपा न था कुछ इसका राज़[1]।
'करता हूँगा जब मैं ध्यान,
मुझे न होगा पीड़ा-ज्ञान।'
यह उपासना है, यह भक्ति,
सौ क्लोरोफार्मों की शक्ति!
निकले तीर कि तन कट जाय,
क्या मजाल जो मन हट जाय,
यही धारणा, ध्यान समाधि,
मेटे बन्धु, तुम्हारी व्याधि।
दे सुबुद्धि तुमको भगवान,
और हमें वह दयानिधान।
मन से मिटे द्वेष का दाभ,
न ले तीसरा दो का लाभ।
तुम्हें चिढ़ाने की ही सोच,
शोर करें हम निस्संकोच,
तो हम करते हैं अनरीति,
सहो कभी तुम न वह अनीति।

× × ×

सावधान हिन्दू सन्तान,
लड़ो न तुम अनुचित हठ ठान।
अपने सहवासी की काँख,
लगने देगी किसकी आँख?
कहीं विजाति घृणा पर गेह,
गढ़े न अपना जाति-स्नेह।
विकृत न रहे शिला-विन्यास,
मनःपूत होगा तब वास।
पर अपने समुचित अधिकार,
न हो छोड़ने को तैयार।

1. राज़—भेद या रहस्य।

थी अधिकारों की ही बात,
हुआ महाभारत संघात।
हम विभु के बालक चिरकाल,
कहें पौत्तलिक विज्ञ विशाल।
अपनी क्रीड़ा,—उसकी गोद,
भय न सोच, बस मोद विनोद!
कोई काफिर, कोई म्लेच्छ,
हो तो होता रहे यथेच्छ।
हिन्दू-मुसलमान की प्रीति,
मेंटे मातृभूमि की भीति।

ईसाइयों के प्रति

ईसाई, छोड़ो सन्देह,
वहीं तुम्हारा हो सुस्नेह।
जहाँ तुम्हारा है घर बार,
आजीविका और व्यापार।
करो न तुम औरों की आस,
रक्खो भारत का विश्वास।
यहीं तुम्हारा है चिरवास,
यही मेट सकता है त्रास।
लेकर भी यूरुप का धर्म,
श्वेत न हुआ तुम्हारा चर्म।
वहाँ चर्म ही की है चाह,
नहीं धर्म की कुछ परवाह।
देख कहीं औरों की बाट,
खो दो तुम घर और न घाट।
बन्धु यही वह भारत शिष्ट,
हुए जहाँ ईसा उपदिष्ट[1]।

---

1. उपदिष्ट—उपदेश पाये हुए, शिक्षित।

पावे फिर वह निज अधिकार,
इसी हेतु हम हैं तैयार।
हर्षित हो, हम हैं सन्नद्ध,
हो जाओ तुम भी कटि-बद्ध।

अपना भरोसा

हिन्दू, फिर भी सुनो सचेत,
हरे तुम्हीं से हैं सब खेत।
ये हैं सदा तुम्हारे अंग,
होते गये सदा जो भंग।
अपनाओ फिर इन्हें सहर्ष,
पाओ एक संग उत्कर्ष।
किन्तु जिलाता है निज श्वास,
रक्खो निज बल, निज विश्वास।
तको पराया मुँह मत और,
बनो स्वावलम्बी सब ठौर।
करे न यदि कोई निज कर्म,
तो क्या हम भी तजें स्वधर्म?
भारतीय संस्कृति का भार,
एक तुम्हीं पर बारम्बार।
स्वयं तुम्हीं ने कहा पुकार—
आत्मा से ही आत्मोद्धार।
हो जाने को बन्धन-मुक्त,
पाने को निज पद उपयुक्त—
करो हिन्दुओ उचित उपाय,
रहे तुम्हारा साक्षी न्याय।
ईसा के ऊँचे उद्देश,
नहीं स्वार्थ का जिनमें लेश।
सम्प्रति स्वयं कर चुका लोप,

वह उनका अपना यूरोप।
आज सैन्य है उसका साध्य,
है साम्राज्यवाद आराध्य।
उसकी यह मरीचिका भ्रान्ति,
करा रही है जितनी क्रान्ति!

अपना उद्देश

किन्तु हिन्दुओं का उद्योग,
हरता नहीं किसी का भोग।
नहीं चाहता है वह क्रान्ति,
उसकी चाह विश्व-विश्रान्ति।
यही साध्य उसका सन्देश,
करो न कोई कुछ अन्देश।
किन्तु आज हिन्दू परतन्त्र,
कौन सुनेगा उनका मन्त्र।
व्यर्थ विश्व-मैत्री की बात,
आज दीन दुर्बल सब तात।
यह औदार्य नहीं उपहास,
तुम्हें जानते हैं सब दास!
कौन करे दासों को मित्र?
वहाँ चाहिए तुल्य चरित्र।
किया जा सके जिन पर क्रोध,
कौन करे उनसे अनुरोध?
उठो, अरे फिर दृढ़ता धार,
रख अपने ऊपर निज भार।
तभी सुनेगा फिर संसार,
सभी तुम्हारे उच्च विचार।
मचा विश्व में 'कलह-कलेश'
दोगे तुम्हीं शान्ति-सन्देश।

किन्तु तुम्हारी वाणी क्षीण,
बनो प्रबल फिर, बनो प्रवीण।
आओ, बन्धु खड़े हो जाव,
जैसे रहे, बड़े हो जाव।
बिखरी शक्ति करो एकत्र,
फिर सब से कह दो सर्वत्र,—
भुवन हेतु है भारतवर्ष,
सबका है उसका उत्कर्ष।
साधनधाम, मुक्ति का द्वार,
हिन्दू का स्वदेश संसार।
हिन्दू, यही तुम्हारा लक्ष,
रहे सदा सर्वत्र समक्ष।
तुम हो निरवच्छिन्न मनुष्य,
ईश्वर से अविभिन्न मनुष्य।
बनें लोक नागर जो लोग,
सफल करें वे निज उद्योग।
तुम हो विश्व कुटुम्बी आर्य,
हों तद्रूप तुम्हारे कार्य।
साधो शक्ति और निज युक्ति,
पाओ पैत्रिक निधि-सी मुक्ति।
प्रेम देश को करके पार,
करे विश्व में पुनः प्रसार!
करके पहले आत्म-सुधार,
कर लो भारत का उद्धार,
फिर लोकोपकार में लीन,
विचरो सभी कहीं स्वाधीन।
साधु-संघ, आध्यात्मिक सत्र,
संस्थापित करके सर्वत्र।
निज मध्यस्थ भाव लो शोध।
शान्त करो तुम विश्व-विरोध।
अपने को पहचानो आर्य,
मूल-मन्त्र यह मानो आर्य,—
नहीं कहीं बाहर निज सिद्धि,
आत्मानं - स्वात्मानं - विद्धि!

तथास्तु

परिशिष्ट

(गीत)

सिद्धि गणेश

जय गणेश, जय सिद्धि गणेश।
रहे न भय-संशय का लेश,
जय गणेश, जय सिद्धि गणेश।

करो आर्य, गणराज-विधान,
जयति विनायक बुद्धि-निधान।
मिटें विघ्न, बाधा, व्यवधान,
धारण करो अखिल अवधान।
सिद्धि लाभ शुभ भावावेश,
जय गणेश, जय सिद्धि गणेश।

गज-सा शीश, समुन्नत भाल;
सूक्ष्म दृष्टि, श्रुति-शक्ति विशाल।
हस्ति-हस्त, धीरज की चाल;
फल दे झुक ऊँची भी डाल।
मोदक भरे सुकाल सुदेश,
जय गणेश, जय सिद्धि गणेश।

रामकृष्ण की जय

भगें हमारे सारे भय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।

क्या साकेत धाम वह प्यारा,
क्या वह क्रूर कंस की कारा;
वह प्रकाश सर्वत्र हमारा,
जय भारत निज देवालय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।

जय तृण तुल्य राज्य के त्यागी,
जिनके अनुज भरत बड़भागी;
जय अधिकारों के अनुरागी,
कि हो महाभारत निश्चय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।

जय अमोघशर, अरिमदभंजन,
नय मुरलीधर जन मन रंजन,
जयति पतितपावन, अघगंजन,
जयति कर्ममय, कौशलमय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।

बना वानरों को नर-नागर,
बँधवाया सौ योजन सागर;
तान छत्र-सा अद्रि उजागर,

मेटा व्रज का जल-प्रलय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।

जय सीता, निज धार्मिक दीक्षा,
अग्नि आप कर चुका परीक्षा;
जय गीता, निज मुक्ति समीक्षा,
पाओ पूर्णतया प्रत्यय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।

हर हर महादेव

काँपे दैत्य दस्यु थर थर,
हर हर महादेव हर हर!

जय विषपानिप्रलंकर,
अमृतदानि, जय अभयंकर।
जय शूली, जय शिवशंकर,
निकलें सब काँटे-कंकर,
भगे स्वयं सब डर डर डर,
हर हर महादेव हर हर!

किसके बाधा-विघ्न किधर,
तेरा सिद्ध गणेश इधर।
जीवन तो है मुक्ति—समर,
होते हैं नर जहाँ अमर।
बढ़ें क्यों न साहस कर कर?
हर हर महादेव हर हर!

हमें प्रलय का भी क्या डर,
नयी सृष्टि उसके भीतर।
वह है प्रसव-वेदना भर,
हम हैं विभो, बद्ध परिकर।
हो तेरा ताण्डव तर तर,
हर हर महादेव हर हर!

डम डम डम डमरू का स्वर,
दूर कर त्रय ताप-ज्वर।
बम् बम् बोलो, हों जर्जर–
विषय पंचशर विष वर्वर,
बहे शान्ति-निर्झर झर झर,
हर हर महादेव हर हर!

जय गिरीश, जय गंगाधर,
देश मूर्तिमय शशिशेखर!
तेरे अभिमानी अनुचर–
हम हों कीर्तिवधू के वर।
दे निज भक्ति शक्ति भर भर,
हर हर महादेव हर हर!

भगवती भवानी

तीनों लोकों की रानी।
जय जय भगवती भवानी!

उठे बहुत सुर-अरि परिपुष्ट
गिरे किन्तु कट कट कर दुष्ट
रण में अग्नि शिखा-सी रुष्ट
मन में पानी पानी।
जय जय भगवती भवानी!

स्वर्गभ्रष्ट, स्वराज्यभ्रष्ट,—
भज कर तुझे बिना ही कष्ट
अपना स्वर्ग, स्वराज्य स्पष्ट
पाते हैं जन मानी।
जय जय भगवती भवानी!

माँ, अनन्त है तेरी शक्ति,
अमर-संघ-बल की तू व्यक्ति,
रक्खें हम भी वैसी भक्ति,
बनें आत्मबलिदानी।
जय जय भगवती भवानी!

क्या बाधा है, कैसी व्याधि,
अम्बा मेटेगी सब आधि,
साक्षी हैं सुर, सुरथ, समाधि,
हो आर्य्या के ध्यानी,
जय जय भगवती भवानी!

महावीर की जय

अरि-गृह में भी संयम मय,
बोलो महावीर की जय।

वसो ग्राम-वन में भी नागर,
गिनो तुच्छ विघ्नों के सागर।
लो सीता-संवाद उजागर,—
जो निज मान-मूर्ति निश्चय;
बोलो महावीर की जय।

राक्षस रिपुओं की क्या शंका,
जले कनक की भी अघलंका।
बजे राम राजा का डंका,
प्रेत-पिशाचों का क्या भय?
बोलो महावीर की जय।

पथ-पर्वत सब कुछ दुर्गम हों,
पर साहस उत्साह न कम हों।
संजीवनी और बस हम हों,
फिर क्या सोच और संशय?
बोलो महावीर की जय।

गुरुदक्षिणा कपट मुनि पावें,
लक्ष्मण-से भाई बच जावें।
हम निज कार्य्य सिद्ध कर लावें,
रहें शक्ति-सम्पन्न सदय,
बोलो महावीर की जय।

हमारा हिन्दुस्तान

हम सब हैं हिन्दू सन्तान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

जैन, बौद्ध, सिख, आर्य्य अशेष,
सब हिन्दू-कुल के ही वेश।
फिर क्या विग्रह, क्या विद्वेष?
छेड़ो मधुर मिलन की तान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

एक अतुल हम सबका मूल,
हमको भिन्न समझना भूल।
सम्प्रदाय रुचि के अनुकूल,—
हैं श्रद्धा के ही संस्थान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

एक हमारे हैं संस्कार,
हममें एक रुधिर-संचार।
एक हमारा देश उदार,
गूँजे एक गर्व का गान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

स्वस्तिक-प्रणव हमारा एक,
एक त्याग-तप का उद्रेक।
जन्म-कर्म का एक विवेक,
इष्ट एक निर्वाण महान,

जिये हमारा हिन्दुस्तान।

इतने ज्ञानी, ध्यानी, धीर,
इतने दानी, मानी, वीर,
इतने अधिक गुणी गम्भीर,
कौन देश कर सका प्रदान?
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

चीन देश की अद्‌भुत ओट,
कब सह सकी काल की चोट?
किन्तु हिमालय का वह कोट—
तान रहा है व्योम-वितान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

मेटी हमने भव की भ्रान्ति,
दी सुख-शान्ति, विश्व-विश्रान्ति।
जाकर कहीं नहीं की क्रान्ति,
प्राप्त हमीं को है यह मान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

ऐसा देश कौन है और?
ऐसी जाति कहाँ, किस ठौर?
रहे, रहेंगे हम सिरमौर;
हमको है निज कुल की आन,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

उठो बन्धुगण, करो विवेक,
जैसे हो, हो जाओ एक।
रक्खो हिन्दूपन की टेक,
हो चाहे जितना बलिदान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

हरिः ओम्

हरिः ओम्, हरिः ओम्,
हरिः ओम्, ओम्
जियो अमृतपुत्र, जियो,
पिओ प्रेम - सोम।
एक पुण्यभूमि, एक मातृभूमि,
हरित भरित भरतभूमि भ्रातृभूमि,
हम सब हिन्दू, हम सब आर्य
हुए यहीं अवतार हमारे,
हुए यहीं आचार्य;
यही हमारी धर्मभूमि है,
भवविस्तारित कर्मभूमि है,
हम सब हैं अविभक्त,
भरा है हम सबमें ऋषि-रक्त
उड़े ओम् का झण्डा एक,
जुड़ें जहाँ हम सब सविवेक,
उठे एक गान
और गूँज उठे व्योम
हरिः ओम्, हरिः ओम्,
हरिः ओम्, ओम्।

करो सानुराग आत्मयाग
—हृदय होम,
बढ़े सूर्य-तेज, बढ़े सोम
—यशस्तोम।

एक मनः प्राण, एक सत्य पक्ष,
एक उक्ति, एक मुक्ति, एक लक्ष,
हम सब हिन्दू, हम सब आर्य,—
और विश्व को आर्य बना लें
यही हमारा कार्य;
एक हमारा मिलनमन्त्र हो,
एक यन्त्र हो, एक तन्त्र हो,
एक हमारा भाव,
एक मत और एक प्रस्ताव,
पावें अखिल इष्ट हम लोग,
पाते हैं ज्यों सुर मख-भोग,
पुलक उठे राष्ट्र हेतु
—सजग रोम रोम,
हरिः ओम्, हरिः ओम्,
हरिः ओम्, ओम्।

❑❑❑